जो कहा जाता है कि अहं ऐसा प्रकाशन आत्मा का स्वरूप है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जब स्पष्ट रूप से श्रुति निषेध करती है कि मैं यह हूँ इस रूप से अपने आप को नहीं जानता, तब उसके प्रकाश की कल्पना निराधार ही है।

जो कहते हैं ज्ञानस्वरूप होकर अहं प्रकाशता है। उनका भी कहना, ज्ञान-स्वरूप का प्रकाश तो अद्वैती को भी मान्य है, परन्तु उसमें अहं का स्फुरण नहीं होता। यदि ज्ञानप्रकाश को अहं का प्रकाश मानते हैं तो वह निराधार ही है। धर्मभूत ज्ञान संकुचित भी हो तो यदि आत्मा अहंरूप है और वह स्वप्रकाश है तो फिर अहं का भी स्फुरण होना ही चाहिये।

जो कहते हैं हम सोते रहे इस कथन से ही सुप्ति में अहं का होना सिद्ध होता है। उनका कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह कहा जा चुका कि हम सोते रहे यह जिस समय कहा जा रहा है वह जाग्रत् काल है। उस समय अहं के रहने से ही अहं का प्रयोग होता है। सोते समय का आत्मा प्राज्ञ था, जागते समय का आत्मा विश्व है। अहङ्कारविशिष्ट विश्व है, अज्ञानविशिष्ट प्राज्ञ है, चैतन्य दोनों ही में अनुस्यूत है। अनन्त ज्ञानरूप आत्मा अज्ञान से संसारी है। ज्ञान से सर्वसंसार बाधपूर्वक पुनः असंसारित्व को प्राप्त होता है।

कहा जाता है कि "अहमर्थ का यदि मोक्ष में नाश हो तो किसी अन्य संविद् की मुक्ति के लिये अहमर्थ की प्रवृत्ति का कुछ प्रयोजन नहीं, जैसे मृत भार्या के उज्जीवन करने के लिये देवी को अपना शिर काटकर चढ़ाना मूर्खता है"। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि दुःख-विशिष्ट आत्मा जैसे दुःखनाश का प्रयत्न करता है वैसे ही अहङ्कारविशिष्ट आत्मा का अहङ्कार के नाश के लिये प्रयत्न हो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यद्यपि केवल अन्तःकरण या केवल चैतन्य प्रयत्न नहीं कर सकता तथापि अन्तः-करणावच्छिन्न चैतन्य के द्वारा प्रयत्न होने में कोई बाधा नहीं है। अन्तःकरण वृत्ति अध्यस्त ही है। अतः चैतन्य अध्यास का आश्रय नहीं हो सकता, यह कथन भी निःसार है। माया के द्वारा आत्मा ही जब सम्पूर्ण प्रपञ्च का ही आश्रय है तो उसकी प्रपञ्चाश्रयता में क्या आपत्ति हो सकती है?

"अक्षमा भवतः केयं साधकत्व प्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्॥"

वेदान्त के अनुसार अध्यास अन्तःकरण की वृत्ति नहीं किन्तु अविद्या वृत्ति है। अविद्या का आश्रय चैतन्य है अतः अविद्या वृत्ति भी चैतन्य में ही है।

कुछ लोग कहते हैं "चैतन्य बन्ध का आश्रय नहीं होता"। परन्तु यह ठीक ही है, चैतन्य का वस्तुतः बन्ध न होने पर भी अविद्याध्यारोपित बन्ध है ही। उसकी निवृत्ति ही मुक्ति है।

कुछ लोग कहते हैं "अहङ्कार के द्वारा आरोपित बन्ध से वस्तुतः चैतन्य बद्ध नहीं हो सकता, किसी न्यायशील राजा को यदि कोई दुष्ट मान भी ले तो भी वह दुष्ट नहीं होता।" परन्तु इसी लिये तो कहा जाता है कि अज्ञ दृष्टि से आत्मा में बन्ध और मोक्ष होता है, वस्तुतः नहीं।

"अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौस्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्र चिन्त्यात्मनि केवले परे,
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥'

———

सुप्ति में अज्ञानादि का अनुभव

सुषुप्ति में अज्ञान का अनुभव होता ही है और वह अज्ञान पराक् ही है, फिर पराक् अर्थ का अनुभव सुप्ति में नहीं होता यह भी कथन असंगत है। अहं अहं इस एकाकार से प्रतीति सुप्ति में होती है, यह कहना भी असंगत ही है, क्योंकि सुप्ति में अहमाकार वृत्ति होती ही नहीं। प्रत्यक् स्वरूप से स्फुरण तो अद्वैती को मान्य है ही। अहङ्कार संस्कार सचिव अविद्यात्मक कारण शरीरावच्छिन्न चैतन्य ही प्राज्ञ कहलाता है। अहङ्कार संस्कार रहने पर भी अहङ्कार की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि यदि ऐसा संभव हो तब तो प्रलय काल में सभी पदार्थ संस्काररूप से रहते हैं। फिर उनकी भी प्रतीति होनी चाहिये। अहं बुद्धि नहीं होने से सुषुप्ति में अहं का अस्तित्व नहीं कहा जा सकता। यदि सुषुप्ति में अहं विद्यमान होता तो जैसे जाग्रत्काल में 'घटमहं पश्यामि' अनुभव होता है वैसे ही सुप्ति में 'सुखमहमनुभवामि', 'अज्ञानमहमनु-भवामि' मैं सुख का अनुभव करता हूँ, मैं अज्ञान का अनुभव करता हूँ, ऐसा अनुभव होना चाहिये था। परामर्श काल में अहमर्थ के उल्लेख का कारण तो उस समय अहङ्कार का सत्त्व ही है।

जिस अहङ्कार संस्कार से विशिष्ट अज्ञानोपहित चैतन्य से जिसका अनुभव होता है, उसी अहङ्कार से विशिष्ट चैतन्य के द्वारा उसका परामर्श होता है।

कहा जाता है जब सुप्ति में अहं नहीं रहता अज्ञान साक्षी ही रहता है तब तो अज्ञान साक्षि ही था, चैतन्य सोया था, ऐसी ही प्रतीति होनी चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि अहं भाव के न रहने पर संवित्मात्र में प्रत्यक्त्व का व्यवहार ही नहीं हो सकता, परन्तु यह ठीक नहीं। प्रत्यक्त्व और अहन्ता का कोई सामानाधिकरण्य नहीं है। अहमर्थ ही प्रत्यगात्मा है इस पक्ष का खण्डन इसी से हो जाता है कि जैसे दृश्य होने से इदमर्थ अनात्मा है, वैसे ही दृश्य होने से अहमर्थ भी अनात्मा ही है। दृग्दृश्यग्रन्थि अहमर्थ है, वह अहं शब्द का वाच्य है, लक्ष्यार्थ दृशि आत्मा है, अतः अहं और इदं दोनों ही कल्पनाओं का अधिष्ठान चैतन्य ही प्रत्यक् है। वही स्वयं शब्द से कहा जाता है। वह अहं,

त्वं, इदं, सभी में अनुगत रहता है। मैं स्वयं जाता हूँ, तुम स्वयं देखो, वह स्वयं खा रहा है। घट स्वयं नहीं जानता है। सुप्ति में अहं का बाध निश्चित होने से वह आत्मा नहीं हो सकता है।

कुछ लोग कहते हैं "सुप्ति में तमोगुण से अभिभूत होने के कारण पराक् अर्थ का अनुभव नहीं होता। इसी लिये अहमर्थ का स्फुट अनुभव न होने पर भी अहं अहं रूप से सुषुप्ति में अहमर्थ आत्मा का अनुभव होता ही है।" परन्तु यह कहना ठीक नही है, कारण कि अद्वैती के यहाँ त्रिगुणात्मक प्रकृति का कार्य होने से अहं का अभिभव हो भी सकता है। परन्तु जिसके मत में अहमर्थ प्रत्यगात्मा है, उसके मत में तो वह त्रिगुणातीत है, फिर उसका तमोगुण से अभिभव कैसे हो सकेगा ? यदि कहा जाय कि प्रकृति के संसर्ग से स्वतः त्रिगुणातीत होने पर भी उसमें सगुणता संभव है, तो यह भी ठीक नहीं। कारण, असङ्ग में प्रकृतिसंसर्ग सम्भव ही नहीं है। 'असङ्गो नहि सज्जते' श्रुति आत्मा को असङ्ग कहती है। कुछ लोग समझते हैं कि सुषुप्ति में चिन्मात्र ही अवशिष्ट रहता है, परन्तु ऐसा होने पर तो सर्व की मुक्ति का प्रसङ्ग होगा। अतः अज्ञाना-वच्छिन्न चैतन्यरूप प्राज्ञ अवशिष्ट रहता है यही अद्वैतियों का सिद्धान्त है। वही अविद्या वृत्तियों से सुख एवं अज्ञान का अनुभव करता है। साक्षि चैतन्य के अनुभव के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है। अन्तःकरण उस समय रहता नहीं, अतः तद्वृत्तिरूप ज्ञान भी नहीं रहता। प्राज्ञ सुषुप्ति में अपने से अनुभूत सुख एवं अज्ञान को जागरावस्था में अहङ्कार के साथ तादात्म्याध्यास प्राप्त करके विश्व होकर 'मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ नहीं जाना' इस रूप से स्मरण करता है।

जो कहते हैं "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति, इस श्रुति में पुरुषरूप प्रत्यगात्मा संविन्मात्र नहीं है किन्तु ज्ञाता ही है। 'एष हि द्रष्टा', इस श्रुति में ज्ञाता को ही पुरुष कहा गया है। लोक में भी ज्ञाता को ही पुरुष कहा जाता है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं है, 'पूर्णत्वात्पुरिशयनाद्वा पुरुषः' पूर्ण होने से अथवा पुरों में शयन करने से पुरुष शब्द की प्रसिद्धि होती है। अणुपरिमित अहमर्थ में पूर्णत्वरूप पुरुषत्व नहीं बन सकता। अपरिच्छिन्न संविद् भी शरीरादि में पूर्ण होने से पुरुष शब्दार्थ हो सकती है। अन्तःकरण के साथ तादात्म्याध्यास से शरीररूप पुर में शयन भी संविद् का हो सकता है। इस दृष्टि से भी संविद् में पुरुष शब्द प्रयोग संगत है। अहङ्कार में भी पुर में शयन के कारण पुरुष शब्द प्रयोग हो सकता है। यदि देह में साभिमान होना ही

पुरशयन का अभिप्राय है तो भी यह साभास अहङ्कार में संभव है। यद्यपि सर्वव्यापिनी संविद् में भी पुरिशयनरूप पुरुषत्व संभव है तथापि पुर में ही शयन यदि पुरुष शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त हो तो वह संविद् में अन्तःकरणाध्यास से ही संभव है। इस तरह अहङ्कारावच्छिन्न संविद् या संविदाभास सहित अन्तःकरण में पुरुष शब्द का प्रयोग होता है। इस दृष्टि से 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' यह श्रुति पुरुष को स्वयंज्योति कह रही है। सूक्ष्म एवं कारण इन दो शरीरों से अवच्छिन्न चैतन्य तैजस् ही यहाँ ज्ञाता पुरुष है। वही जाग्रत् में शरीरत्रयावच्छिन्न होकर जागराभिमानी विश्वसंज्ञक ज्ञाता पुरुष होता है। इस तरह जाग्रत् एवं स्वप्न के अभिमानी विश्व एवं तैजस् में पुरुष शब्द प्रयोग होने पर भी संविद् की पुरुष शब्दवाच्यता में कोई क्षति नहीं होती, क्योंकि पूर्णत्व लक्षण पुरुषत्व मुख्य रूप से संविद् में ही है। वस्तुतः विश्व, तैजस्, प्राज्ञ तीनों ही का जो वास्तविक विज्ञानरूप है वही संवित् है, अतएव श्रुति ने उसे विज्ञानात्मा कहा है। विज्ञानात्मा शब्द का अर्थ है विज्ञान स्वरूप। यहाँ आत्म शब्द स्वरूपवाची है। कुछ लोग ज्ञानधर्मक अर्थ करते हैं परन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि आत्म शब्द का धर्म अर्थ असंगत है। इस तरह अपरिच्छिन्न संविद् मन चक्षु आदि के साथ तादात्म्याध्यास से द्रष्टा श्रोता आदि होकर विश्व होती है। वह आदित्यादि ज्योतियों के अनुग्रह से जगत् प्रकाशन करती है। अतः स्वयंज्योति नहीं कही जाती। वही स्वप्न में सर्वेन्द्रियों के उपरत होने एवं आदित्यादि देवताओं के न होने से स्वाविद्या-परिकल्पित प्रपञ्च का स्वयं प्रकाशन करती हुई स्वयंज्योति तैजस् होती है। वही सुप्ति में सर्वद्वैत के उपरम होने से आनन्दभुक् प्राज्ञ कहलाती है। तीनों अवस्थाओं के आविद्यिक होने से तीनों का साक्षी तीनों से अस्पृष्ट चिन्मात्र ही मुख्य प्रत्यगात्मा है। 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्', 'ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्। अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादि धर्मिणा'; इत्यादि सहस्रों वचनों से प्रत्यगात्मा को स्पष्ट ही अनन्त स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप कहा गया है।

कुछ लोग कहते हैं कि "ज्ञानस्वरूप होने पर भी आत्मा ज्ञाता है।" परन्तु ज्ञान उपाधि के बिना स्वतः ज्ञाता नहीं हो सकता। कुछ कहते हैं कि ज्ञान ही ज्ञाता है, फिर उन्हें ज्ञाता ही आत्मा है ज्ञान नहीं, यह पक्ष छोड़ना पड़ेगा। कुछ कहते हैं कि आत्मा ज्ञानमात्र नहीं है किन्तु ज्ञाता भी है। अर्थात् ज्ञान स्वरूप होकर ज्ञान गुणवाला आत्मा है। परन्तु एक ही ज्ञान में स्वरूपत्व एवं

धर्मत्व कैसे बन सकेगा ? यदि कहा जाय कि दो प्रकार का ज्ञान है अतः एक में गुणत्व अन्य में ज्ञानस्वरूपत्व रहेगा, परन्तु यह अप्रसिद्ध है। इस तरह पुरुष शब्द संवित् एवं ज्ञाता दोनों ही अर्थों में प्रसिद्ध होने पर भी आत्मा संविद् स्वरूप ही है। ज्ञाता मुख्य आत्मा नहीं है, ज्ञातृत्व उसमें आरोपित होता है, आत्मभिन्न सब कुछ मिथ्या है, यही बात 'स आत्मा', 'तत् सत्यं', 'अतोऽन्यदार्त्तम्' इत्यादि श्रुतियों में कही गयी है। उसमें पुरुष शब्द की प्रसिद्धि औपचारिक ही है। शास्त्रीय अर्थ के निर्णय में लोकप्रसिद्धि अनेक स्थलों में त्याज्य होती है; जैसे 'वाजिभ्यो वाजिनम्' यहाँ वाजि शब्द की अश्व अर्थ में प्रसिद्धि होने पर भी वह अर्थ अग्राह्य है।

ज्ञाता अर्थ में पुरुष शब्द का प्रयोग मान लेने पर भी ज्ञाता पुरुष का स्वरूपभूत जो ज्ञान है वही मुख्य आत्मा मान्य है। ज्ञाता ही आत्मा है ज्ञाता का स्वरूप आत्मा नहीं है, यह कहना अर्थशून्य ही है।

कहा जाता है 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस परामर्श से उस समय अहमर्थ का सुखित्व एवं ज्ञातृत्व विदित होता है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यह प्रतीति जाग्रत् काल की है। सुषुप्ति में अहं ऐसी प्रतीति नहीं होती। क्योंकि अहमर्थ रूप से अभिमत वादी का आत्मा सुखरूप ही होता है फिर उसमें सुखित्व प्रत्यय कैसे हो सकेगा ? साथ ही सुषुप्ति में धर्मभूत ज्ञान वादी को सम्मत नहीं है। तब फिर उसमें ज्ञातृत्व कैसे बन सकेगा ?

यदि कहा जाय कि उस समय स्वरूपभूत ज्ञान से ही ज्ञातृत्व सिद्ध होगा, परन्तु यह भी ठीक नहीं। यहाँ विचारणीय है कि क्या स्वरूपज्ञान ही ज्ञाता है अथवा स्वरूपज्ञान से अज्ञान सुखादि का ज्ञान उत्पन्न होता है। दोनों ही पक्ष में स्वरूपभूत ज्ञान में ज्ञानाश्रयता प्रसक्त होती है। इस स्थिति में धर्मिभूत ज्ञान के आश्रित ज्ञान में धर्मभूत ज्ञानत्व रहेगा ही। फिर सुषुप्ति में धर्मभूत ज्ञान नहीं रहता इस कथन का क्या अर्थ रह जायगा ?

यदि आत्मा ज्ञाता एवं सुखी होगा तब तो दुःखी भी आत्मा होगा ही। यदि कहें कि ऐसा इष्ट ही है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्रों में कूटस्थ आत्मा में सुख दुःखादि विकार अमान्य ही है। यदि आत्मा का सुख धर्म है तब तो 'सुखमहमस्वाप्सम्' मैं सुखी होकर सोता था, ऐसा स्मरण होना चाहिये। फिर 'सुखमहमस्वाप्सम्' मैं सुख से सोया, ऐसा परामर्श क्यों होता है। यदि कहा जाय कि सुख क्रिया का विशेषण है पर यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्रिया

सुख का आधार नहीं हो सकती। अतः सुखस्वरूप मैं सोता था यही इसका अर्थ होना युक्त है। तो भी लोक क्रियाविशेषण दृष्टि से ही व्यवहार करता है। जैसे मुझे सुख हो वैसा सोता था। सर्वोपद्रव विवर्जित ज्ञान ही सुख है, वही आत्मा एवं प्रकाशक होने से ज्ञान है; आनन्दयिता होने से सुखरूप है। जैसे निर्विकल्पक ज्ञान से सविकल्पक ज्ञान होता है वैसे ही निर्विकल्पक सुख से सविकल्पक सुख होता है। पदार्थ ज्ञान से वाक्यार्थ ज्ञान होता है। वैसे ज्ञानरूप आत्मा से ज्ञान होना संगत है।

सुषुप्ति में अज्ञानाश्रय प्राज्ञ होता है अहमर्थ नहीं, यदि अहं होता तो 'अहं विदामि' मैं जानता हूँ, ऐसा ही अनुभव होना चाहिये था। वैसा नहीं होता। अतः परामर्श काल में ही अहं का अस्तित्व मान्य होता है, सुप्ति में नहीं। जो कहा जाता है कि 'सुप्ति में वेदन का ही अभाव होता है ज्ञाता का नहीं', यह ठीक नहीं। मैंने कुछ नहीं जाना यह अज्ञानानुभव रूप तो वेदन रहता ही है। यदि वह न हो तब तो उक्त प्रकार का स्मरण ही नहीं बन सकेगा।

अहमर्थनाश आत्मनाश नहीं

कहा जाता है कि "मामप्यहं नाज्ञासिषम्, उस समय मैं अपने को भी नहीं जानता था। इस स्मरण से प्रतीत होता है कि सुप्ति में ज्ञाता अहमर्थ अवश्य था।" परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि इसी स्मरण से विदित होता है कि उस समय अहमर्थ नहीं था। 'नाहं गृहे घटमपश्यम्', मैंने घर में घट नहीं देखा इस घटानुभवाभाव से घट का अभाव ही सिद्ध होता है। वैसे सुप्ति में अहमर्थ का अनुभव न होने से उसका अभाव ही निश्चित होता है।

कहा जाता है कि घट तो द्रष्टा से भिन्न है, परन्तु अहङ्कार भी प्राज्ञ से भिन्न है यह कहा ही जा चुका। यदि कहा जाय कि माम् एवं अहम् दोनों का अर्थ अहमर्थ एक ही है तो यह भी ठीक नहीं; स्मरण के समय ही अहमर्थ रहता है, अनुभव के समय नहीं यह कहा जा चुका। अतः घट के तुल्य अहङ्कार के न होने से ही उसका अनुभव नहीं होता। इस तरह प्राज्ञ अपने द्वारा अनुभूत अहङ्काराभाव को 'जाग्रत् काल में विश्व हो मैंने भी अपने को भी नहीं जाना' ऐसा स्मरण करता है, अन्यथा अपने को अपना अनुभव न होना कैसे बन सकता है? घट नहीं था ऐसा कहनेवाला घटाभाव का अनुभव करके ही कहता है क्योंकि अननुभूत का स्मरण हो ही नहीं सकता है। इसी तरह विचारणीय है कि 'मामहं नाज्ञासिषम्' मैंने अपने को भी नहीं जाना यह कहनेवाला अपने अभाव का अनुभव करता है या नहीं? अपने ही द्वारा अपने अभाव का अनुभव कैसे बन सकेगा? अपना अभाव अपने ही द्वारा कोई नहीं ग्रहण कर सकता। कारण, जिस समय ग्राहक होगा उस समय ग्राह्य नहीं रहेगा, जिस समय ग्राह्य रहेगा उस समय ग्राहक न रह सकेगा। यदि अहमर्थ ने अपने अभाव का ग्रहण नहीं किया तब स्वभाव का स्मरण कैसे कर सकेगा? यद्यपि घटादि की अज्ञात सत्ता भी रह सकती है तथापि स्वप्रकाश साक्षी या साक्षिभास्य अहङ्कारादि की अज्ञात सत्ता का समर्थन कथमपि हो नहीं सकता। अतः यही कहना उचित है कि अहमर्थ से अन्य प्राज्ञ ने ही अहमर्थाभाव का ग्रहण किया और वही विश्व बनकर उसका स्मरण करता है। विश्व अहङ्कारावच्छिन्न होता है। अतः स्मर्ता में अहमर्थ का उल्लेख होता है।

कहा जाता है कि फिर भी प्राज्ञरूप अनुभविता का ही सुप्ति में अवशेष सिद्ध होता है, केवल अनुभव का नहीं। परन्तु यह इष्ट ही है। अनुभवमात्र का अवशेष तो मुक्ति में ही रहता है सुप्ति में नहीं। सुप्ति में अनुभविता प्राज्ञ ही रहता है, तो भी अहङ्कार का ज्ञातृत्व प्रसिद्ध है। सुप्ति में अहङ्कार नहीं रहता है इसी लिये अनुभवमात्र के अवशेष रहने की बात कही जाती है। इसी दृष्टि से कहीं कहीं सुप्ति को परमार्थ दशा कह दिया जाता है। वस्तुतः वह परमार्थ दशा भी नहीं है। कुछ लोग कहते हैं 'सुप्ति में अहमर्थ रहता है परन्तु उसका अनुभव नहीं होता।' परन्तु यहाँ प्रश्न होगा कि अहमर्थ का अनुभव किसे नहीं होता, अहमर्थ को ही या अन्य को? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ भी विकल्प होगा कि अनुभव को स्वानुभवाभाव विदित है या अविदित? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि स्वपरज्ञान शून्य अहमर्थ को स्वानुभवाभाव कैसे विदित हो सकता है? और फिर जो स्वानुभवाभाव को जानता है वह अपने को क्यों नहीं जानता? और स्वज्ञान के बिना स्वानुभवाभाव का ज्ञान कैसे उत्पन्न होगा? यदि स्वानुभवाभाव अविदित है तो स्वानुभवाभाव स्वीकृत कैसे किया जा सकता है?

यदि कहा जाय कि अहमर्थ से भिन्न किसी अन्य को अहमर्थानुभव नहीं है तो बस यही तो अद्वैती का पक्ष है कि प्राज्ञरूप साक्षी को अहमर्थानुभव नहीं होता। इसी लिये अहमर्थाभाव निर्णीत होता है।

कुछ लोग कहते हैं 'मामहं न ज्ञातवान्', मैंने अपने को नहीं जाना यही 'मां' इस कर्म पद का अर्थ है। जागर दशा में ज्ञात जात्यादिविशिष्ट अहमर्थ ही 'अहं' इस कर्तृ पद का अर्थ है। कुछ लोग कहते हैं कि 'स्वापावस्था विशिष्ट विशद अनुभवैकतान अहमर्थ ही यहाँ विषय है।' परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्मरण करनेवाला जागरणकालिक अहमर्थ जात्यादि विशिष्ट ही है। वह अनुभवैकतान नहीं है। साथ ही यह भी कहना ठीक नहीं है कि 'सुषुप्ति में मुझ अनुभवैकतान अहमर्थ को जात्यादिविशिष्ट अहमर्थ का अनुभव नहीं हुआ' क्योंकि ऐसा स्मरण सुप्तोत्थित को नहीं होता।

अनुभवैकतान अहमर्थ क्या है? अहङ्कारविशिष्ट या अहमर्थरहित? पहला नहीं कहा जा सकता क्योंकि अहङ्कारविशिष्टत्व और अनुभवैकतानत्व का सामानाधिकरण्य असिद्ध है। दूसरा भी ठीक नहीं क्योंकि वादी सुप्ति में अहं भाव का विगमन नहीं मानता।

कहा जाता है "यद्यपि सुप्ति में अहङ्कार का विगमन (अभाव) नहीं है, तथापि मैं ब्राह्मण हूँ, मनुष्य हूँ इत्यादि रूप से अहङ्कार का विगम (अभाव) है ही। इसी दृष्टि से सुप्ति में आत्मा को अनुभवैकतान कह दिया जाता है।" परन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि यदि सुप्ति में 'ब्राह्मणोऽहं' इत्यादि रूप का अहङ्कार नहीं रहता तो किस प्रकार का अहङ्कार रहता है? क्या अनुभवरूप अहङ्कार रहता है? अथवा ज्ञाता मैं हूँ इस प्रकार का अहं रहता है? अथवा सुखी अहं; अथवा मैं अपने को नहीं जानता इस रूप से अहं रहता है? वस्तुतः किसी प्रकार का अहंभाव अनुभूत नहीं होता, अतः सुप्ति में अहं की अनुवृत्ति नहीं सिद्ध होती। कहा जाता है 'फिर भी ज्ञाता का अस्तित्व तो अद्वैती को भी मान्य है। क्योंकि अज्ञान साक्षी का अस्तित्व उसे मान्य है। साक्षात् द्रष्टा ही साक्षी होता है।' परन्तु जब तक व्यवहार है तब तक ज्ञातृत्व मान्य ही है। ज्ञान स्वरूप आत्मा में माया जैसे ज्ञेय वस्तु की कल्पना करती है वैसे ही ज्ञातृत्व की भी कल्पना करती है। साभास अहङ्कार के तुल्य ही अहङ्कारावच्छिन्न एवं अज्ञानावच्छिन्न भी ज्ञाता ही होता है। अनवच्छिन्न आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। उस समय ज्ञेय न होने से ज्ञाता नहीं होता। ज्ञानस्वरूप आत्मा माया से ही ज्ञाता होता है। जागर स्वप्न में अहङ्कारवैशिष्ट्य होने एवं सुप्ति में अविद्या-वैशिष्ट्य होने से ज्ञातृत्व है। इस तरह यावद् व्यवहार ज्ञेय सद्भाव होने से ज्ञान स्वरूप आत्मा में ज्ञातृत्व रहता है। इसी दृष्टि से साक्षी, द्रष्टा आदि उसे कहा गया है। परन्तु इतने से ही सुषुप्ति में अहङ्कार का अस्तित्व सिद्ध नहीं हुआ।

मोक्ष में भी अहं नहीं रहता, अहङ्काररूप ग्रंथि का नाश ही मोक्ष है। शुद्ध आत्मा मोक्ष में रहता ही है। जो कहते हैं 'अहमर्थ ही आत्मा है, ज्ञान तो उसका धर्म है अतः अहमर्थ का नाश आत्मनाश ही है।' परन्तु यह ठीक नहीं है। श्रुति में ज्ञानरूप ही आत्मा कहा जाता है। जिसे धर्मरूप ज्ञान कहा जाता है वह वस्तुतः वृत्तिरूप ही ज्ञान है और अन्तःकरण का ही धर्म है। साभास अहङ्कार को लेकर ही 'मम ज्ञानं' इत्यादि व्यवहार होता है। नित्य ज्ञान तो आत्मा अनात्मा किसी का धर्म न होकर आत्मस्वरूप ही है।

जैसे दुःखविशिष्ट दुःखनाश के लिये प्रयत्नशील होता है, वैसे ही साभास अहङ्कार विशिष्ट अधिष्ठान चैतन्य साभास अहङ्कार के नाश के लिये प्रयत्नशील होता है। अथवा अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य ही जीव है। वह अहङ्कारनाश के लिये प्रयत्नशील होता है। अपनी वृद्धावस्था या बन्धु का वध स्ववध नहीं कहा जा सकता। अहमर्थ का भी सम्पूर्णतया विनाश अद्वैतवाद

में इष्ट नहीं है। हृदयग्रन्थिरूप अहङ्कार का विनाश अभीष्ट होने पर भी स्वरूपनाश इष्ट नहीं है। संविद्रूप आत्मा एवं अहङ्कारादि के विवेकाग्रह से अहं इस रूप से अभिमान करता हुआ तापत्रय से आतुर जीवात्मा स्वोपाधिभूत अहङ्काराख्य हृदयग्रन्थि छेदनार्थ प्रयत्न करता है। उसी से ग्रन्थिमुक्त होकर स्वरूप में स्थित होता है। बद्ध की बन्धनिवृत्ति के लिए, मुक्त स्वरूप प्राप्ति के लिये प्रयत्न वैसा ही है जैसे राज्यकाम पुरुष अपने को निर्मलकर सर्वाङ्ग भूषण धारण करता है। यों तो यह भी कहा जा सकता है कि स्वयं अपने आपको स्वान्य ब्रह्म का शरीर बनाकर रखना भी बहुमूल्य रत्न त्यागकर काच लाभार्थ प्रयत्न जैसा ही है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण, शरीरत्रयोपहित बद्ध चिन्मात्र ही जाग्रदवस्थ आत्मा है, वही मोक्ष शास्त्र का अधिकारी है। उपाधिद्वयोपहित स्वाप्न है, एकोपाध्युपहित सौषुप्त एवं अनुपहित मुक्त होता है। बद्ध यद्यपि स्वाप्न एवं सौषुप्त भी है तो भी उपाय में अधिकार जाग्रदवस्थ को ही है। जैसे रोगपीड़ित का नीरोग, शुद्ध स्वरूप प्राप्त्यर्थ औषध सेवन में अधिकार है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। शुद्ध में ही बद्धत्व भ्रम है उसी भ्रम की निवृत्ति के लिए प्रयत्न है।

जिस मत में चित्प्रतिबिम्ब विशिष्ट अहङ्कार ही जीव है उस पक्ष में अहङ्कार विशिष्ट प्रतिबिम्ब बिम्बभूत परमेश्वर की सायुज्यप्राप्ति के लिये अहङ्कारनाश के लिये प्रयत्नशील होता है। अथवा साभास अहङ्काररूप जीव अधिष्ठान चैतन्य रूप से अवस्थिति के लिये यत्नशील होता है। कहा जाता है 'स्वनाश के लिये प्रयत्न संगत नहीं हो सकता।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उत्पत्ति के पहले अधिष्ठान चैतन्य रूप से ही अहङ्कार स्थित था। अतः अधिष्ठान चैतन्य रूप से ही अवस्थिति की आकाङ्क्षा होनी असंगत नहीं है। ब्रह्म ही अपनी अविद्या से जीवभाव को प्राप्त होकर संसरण करता है। अतः वही जीवभाव विगम के लिये यत्नशील भी हो सकता है। सर्वव्यापि जीव को अहङ्कार तादात्म्याध्यास से होनेवाला अहंभाव ही बन्ध है। विद्या के द्वारा उसके समूलोन्मूलन से मोक्ष होता है। व्याधकुल सम्बर्धित राजकुमार के तुल्य प्रबोधमात्र से जीवभाव का बाध होता है—'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य······।'

कहा जाता है "भले ही व्याधकुलवर्धित राजकुमार को स्वजन्म का ज्ञान न होने से व्याधबुद्धि हो परन्तु ब्रह्म को जीवभाव कैसे होगा क्योंकि वह तो ज्ञान स्वरूप ही है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यावद्व्यवहार अज्ञानावच्छिन्न

ब्रह्म रहता ही है। उसी से जीवभाव ब्रह्म में उपपन्न है, और वस्तुतः जीव-भाव उपपन्न नहीं होता यह तो इष्ट ही है। इसी लिये तो माया से जीवभाव कहा जाता है। वही माया स्थाणु में पुरुषत्व, रज्जु में सर्पत्व, गगन में नीलत्व, स्वप्नद्रष्टा के विपिनसञ्चारि व्याघ्रत्व के तुल्य ब्रह्म में जीवत्व की कल्पना करती है। विद्या से उसी मायामय जीवत्व की निवृत्ति होती है। ज्ञान से मिथ्या वस्तु की ही निवृत्ति होती है। स्वाप में संस्काररूप से अहङ्कार रहता है किन्तु मुक्ति में उसका समूल नाश होता है। केवल अहङ्कार कभी भी नहीं रहता; सर्वत्र ही अहं जानामि, अहं पश्यामि आदि रूप से विशिष्ट अहङ्कार ही उपलब्ध होता है। मुक्ति में व्यवहार न होने से सुतरां अहङ्कार का अभाव रहता है। यदि मुक्ति में अहमर्थ होगा तो उसे अवश्य ही स्वानुभूत दुःख का स्मरण होगा।

यदि कहा जाय कि "प्रत्यभिज्ञा के बल से सुषुप्ति में भी त्रिपुटी मान्य है" तो वह ठीक नहीं, यदि ऐसा होता तब तो सुखमहं स्वापिमि, नाहं किञ्चिद्वेद्मि, मामप्यहं न वेद्मि—मैं सुख से सो रहा हूँ, मैं कुछ नहीं जानता हूँ, मैं अपने को भी नहीं जानता ऐसा अनुभव होना चाहिये था। यदि कहा जाय कि त्रिपुटी रहने पर भी त्रिपुटी प्रतीत नहीं होती, जैसे बादल के समय रहता हुआ भी सूर्य दिखाई नहीं देता, तो यह ठीक नहीं। अप्रतीत होकर त्रिपुटी की सत्ता मान्य नहीं होती। क्योंकि त्रिपुटी जब होगी तब प्रतीत होकर ही रहेगी। सुषुप्ति में त्रिपुटी होने में कोई प्रमाण भी नहीं, प्रत्युत 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' इस श्रुति से यह विदित होता है कि जहाँ सब आत्मा ही होता है वहाँ किससे किसको देखा जाय?

कहा जाता है कि "यदि यह त्रिपुटी अनुभूत न होती तो इसका स्मरण भी नहीं बनता", परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि साक्षी के द्वारा अनुभूत सुख एवं अज्ञान को साक्षि से अभिन्न प्रमाता से स्मरण किया जाता है, अतः स्मरण काल में ही अहं के भान होने से त्रिपुटीभान मान्य होता है। कहा जाता है कि 'फिर भी सुप्ति में साक्षी, सुख एवं ज्ञान तीनों हैं ही तो त्रिपुटी का अभाव क्यों? यदि त्रिपुटी सुप्ति में है तब तो सुख विषयक, अज्ञान विषयक, आत्म विषयक तीन वृत्ति मान ली गयी, फिर निर्विशेष ज्ञान कैसे सिद्ध हो सकता है? वृत्तिरूप प्रमाण, सुखादि प्रमेय एवं साक्षीरूप प्रमाता यदि सुप्ति में भी है ही तब जागर से सुप्ति में क्या विशेषता हुई?' परन्तु इसका समाधान यह है कि यद्यपि सुप्ति में उक्त तीनों वृत्ति होती है, तथापि जाग्रत्

के तुल्य एक विशिष्ट वृत्ति नहीं होती। जागर में 'घटमहं जानामि' यहाँ घटाकाश, अहमाकाश एक ही वृत्ति होती है। इसी विशिष्ट वृत्ति के कारण जागर ज्ञान सविकल्प होता है। सुप्ति में साक्ष्याकार वृत्ति, सुखाकार वृत्ति और अज्ञानाकार वृत्ति पृथक् पृथक् ही होती है, इसी लिये सुप्ति का ज्ञान निर्विकल्प होता है। विशिष्टवृत्तिजन्य विशिष्ट ज्ञान सविकल्प होता है, अविशिष्टवृत्ति-जन्य ज्ञान निर्विकल्प होता है। जिस ज्ञान में अहमाकार एवं इदमाकार का स्फुरण होता है वही सविकल्प एवं जहाँ वैस्फुरण नहीं होता वह निर्विकल्प है।

फिर भी कहा जाता है कि 'सुप्ति में अहं नहीं होता इसलिये अहमाकार वृत्ति न हो, परन्तु विषय, सुखादि है ही फिर इदमाकार वृत्ति क्यों नहीं होती ?' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञाता की अहन्ता रहने पर ही ज्ञेय की इदन्ता भासित होती है। ज्ञेय की इदन्ता का प्रत्यक्ष ज्ञाता को ही होता है, अतः सुप्ति में प्राज्ञ कर्ता, सुख कर्म एवं अविद्या वृत्तिरूप करण से सुख का अनुभव होने पर भी, उस अनुभव में अहमाकार एवं इदमाकार न होने से वह अनुभव निर्विकल्प ही है। सुप्ति में त्रिपुटीशून्यता रहती है। प्रमाता आदि का होना ही त्रिपुटी सत्व माना जाता है। कहा जा सकता है कि 'प्राज्ञ ही प्रमाता है'। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रमाता ही सर्वसंसार से उत्तीर्ण होकर प्राज्ञ होता है। संसारी प्रमाता होता है। यद्यपि वह भी संसारी ही कहा जाता है, परन्तु 'अन्धोप्यन्धोभवति' इत्यादि श्रुति के अनुसार प्राज्ञ संसारधर्मातीत सिद्ध होता है। इसी लिये यह भी सिद्ध होता है कि जीव का संसार स्वाभाविक नहीं है किन्तु आगन्तुक ही है। असंसारी होने से ही उसका ब्रह्म से अभेद संभव होता है।

फिर कहा जाता है कि "यदि सुप्ति में अनुभविता, अनुभाव्य एवं अनुभवकरण ये विशेष हैं ही, केवल अहमाकार, इदमाकार विशेष के न होने से ही उस ज्ञान को निर्विकल्प कहा गया है; तब तो कतिपय विशेषरहित न होने के कारण ही निर्विकल्प ज्ञान कहा जाता है यही बात सिद्ध हुई।" पर यह ठीक नहीं, क्योंकि सौषुप्त ज्ञान में साक्षी, या सुख, या अज्ञान कोई भी विषय हो सभी निर्विशेष ही होता है। इसलिये निर्विकल्प ज्ञान सविशेष विषयक नहीं होता। कहा जाता है कि 'अज्ञान सविशेष ही है' पर यह ठीक नहीं, क्योंकि भले ही जागर एवं स्वप्न में सविलास (कार्यसहित) होने से अज्ञान सविशेष हो परन्तु सुप्ति में प्रलय तुल्य निर्विलास होने से अज्ञान निर्विशेष ही रहता है। फिर भी कहा जाता है कि 'केवल अज्ञान तो कभी भी नहीं रहता किन्तु अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य या चैतन्य सहित अज्ञान ही सदा विषय रहता है और वह सविशेष ही

होता है'। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अज्ञान एवं चैतन्य से अतिरिक्त ही विशेष से सविशेषता का प्रसङ्ग हो सकता है; क्योंकि अज्ञान तो चैतन्य की शक्ति ही है अतः वह चैतन्य से भिन्न या अभिन्न रूप से निरुक्त नहीं हो सकता। यों तो 'अयं घटः' इस ज्ञान में भी घट एवं तदवच्छिन्न चैतन्य भी विषय है ही, तथापि एक घट को ही मैंने जाना यही व्यवहार होता है। कहा जाता है कि 'सामान्यजन यद्यपि घट को समझता है तथापि विद्वान घट एवं चैतन्य दोनों को ही जानता है'; परन्तु इस तरह विद्वान् अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य को भी जाने तो भी कोई हर्ज नहीं। इस पर कहा जाता है कि 'फिर तो अज्ञान का अनुभव सविशेषक विषयक होने से सविकल्प ही हो गया।' परन्तु वस्तुतः वृत्तिज्ञान सर्वथा निर्विकल्प नहीं होता। इसी तरह उसका विषय भी सर्वथा निर्विकल्प नहीं होता। पारमार्थिक अनवच्छिन्न ब्रह्म चैतन्य ही मुख्य निर्विकल्प होता है। वृत्तिज्ञान का विषयभूत चैतन्य भी सविकल्प ही होता है किन्तु अनवच्छिन्न चैतन्य वृत्तिज्ञान का विषय भी नहीं होता। कहा जाता है कि 'समाधि में अज्ञान होता नहीं, अतः उस समय वृत्ति का विषयभूत चैतन्य अनवच्छिन्न नहीं रहता है'। परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अज्ञान के न रहने पर तत्कार्य अन्तःकरण वृत्ति भी नहीं रह सकती, अतएव चरमावृत्ति के समय और उपाधि न रहने पर भी वृत्ति स्वयं ही उपाधि है। इसी लिये निर्वीज समाधि में वृत्ति की सत्ता भी स्वीकृत नहीं होती, क्योंकि उस समय बीज अज्ञान नहीं होता। फिर भी वृत्तिज्ञान को निर्विकल्प कहा जाता है। जैसे वृत्ति में उपचार से ज्ञानत्व का व्यवहार होता है वैसे ही निर्विकल्पत्व का भी व्यवहार होता है। जिस ज्ञान का विषय अज्ञानकार्य होता है वह सविकल्प तथा जिसका विषय अज्ञानकार्य न हो वह निर्विकल्प होता है। इस पर यदि यह कहा जाय कि कतिपय विशेषराहित्य निर्विकल्पकता है, यह प्रतिवादी का कथन ही आपको स्वीकार करना पड़ा तो यह ठीक नहीं, कारण प्रतिवादी प्रथम पिण्ड ग्रहण को ही निर्विकल्प मानता है। अथवा जिस ज्ञान में वस्तु स्वरूप ही विषय होता है वह निर्विकल्प और जिसमें वस्तु स्वरूप के अतिरिक्त नाम, जाति आदि विषय होते हैं वह सविकल्प है। सुप्ति के ज्ञान में अज्ञान, सुख एवं आत्मा का स्वरूप ही गृहीत होता है, जाति आदि नहीं, अतः सौषुप्तज्ञान निर्विकल्प ही है। यदि कहा जाय कि सुप्ति में भी अज्ञान विषयक ज्ञान को निर्विकल्प नहीं कहा जा सकता; तो यह ठीक नहीं, क्योंकि सुप्ति से अज्ञान स्वरूप ही गृहीत होता है, नाम जाति आदि उसके साथ नहीं भासित होते। कहा जाता है कि 'अज्ञान

का क्या स्वरूप है जो ज्ञान में भासित होता है?' परन्तु प्रश्नकर्ता से ही प्रश्न किया जा सकता है कि आप अज्ञान का स्वरूप जानते हैं या नहीं? यदि नहीं तो उस न जानने का स्वरूप ही क्या हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि वह भी नहीं कहा जा सकता, तो फिर प्रश्न होगा कि अवेदन का अनुभव न होना वचनाशक्ति का मूल है अथवा अनुभव होने पर वाणी एवं मन का अविषय होना ही मूल है? पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि 'नाहं वेद्मि' मैं नहीं जानता यह कथन बिना अनुभव के नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि अज्ञान के जान लेने पर तद्विषयक प्रश्न व्यर्थ ही है; अतः जैसे सुख दुःख अनुभवैकवेद्य है वैसे ही अज्ञान भी अनुमान से वेद्य होता है। यदि अद्वैत-सम्मत अज्ञान का स्वरूप जानने के लिए प्रश्न है तो उसका उत्तर यही है कि घटादि द्वैत प्रपञ्च का जो रूप है वही द्वैतकारणभूत अज्ञान का भी स्वरूप है।

यदि कहा जाय कि घटादि का कम्बुग्रीवादि रूप प्रसिद्ध ही है तो यह ठीक नहीं। घटादि मृत्तिकादि रूप ही है, कुलाल ने मृत्तिका को ही कम्बुग्रीवादि आकार-वाली बनाया है। यदि कहा जाय कि इस तरह तो घटादि स्वतः निस्तत्व ही हैं, तो इसी तरह अज्ञान को भी निस्तत्व ही समझना चाहिये। कहा जाता है कि भले ही घटादि निस्तत्त्व ठहरें परन्तु मृत्तिकादि तो सत्य ही हैं, अतएव 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' श्रुति है, परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि मृत्तिका का स्वरूप लक्षण निश्चित नहीं होता। मृत्तिका क्या है यह विचार करने से गन्धवत्व पृथिवी का लक्षण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह तटस्थ लक्षण है, स्वरूप लक्षण नहीं। ऐसे ही नील रूपवत्व, काठिन्यवत्व आदि भी लक्षण नहीं, क्योंकि ये सब गुण हैं, मृत्तिका द्रव्य है, अतः उसके स्वरूप नहीं। पिण्ड मृत्तिका का स्वरूप है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह भी मृत्तिका से ही आरब्ध है। पट का आरम्भक तन्तु पट का स्वरूप नहीं होता। कार्य के पहले ही कारण सिद्ध होता है। चूर्णपुञ्ज मृत्तिका है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि पुञ्ज अतात्त्विक ही होता है। पुञ्जघटक अवयवों से भिन्न पुञ्ज कोई वस्तु नहीं। चूर्ण त्रसरेणु मात्र नहीं है। वह भी परमाणुमात्र है। परमाणु यदि सावयव है तो वह भी अवयवों से भिन्न नहीं। निरवयव है तो वह सावयव मृत्तिकारूप कैसे हो सकता है? यदि कहा जाय कि मृत्तिका भी निरवयव ही है तो प्रत्यक्ष विरोध है। इसी तरह अनिवर्चनीय ही जगत् का रूप है। वस्तुतः सविकल्प ज्ञान एवं उसका विषय ही भ्रमसिद्ध है। तथा भ्रमोत्पादनभूत, अनादि, अनिर्वचनीय, भावरूप ही अज्ञान है।

अनुभूति की निर्धर्मकता

भेद आदि धर्म अनुभूति के धर्म नहीं हैं, दृश्य होने से, रूपादि के तुल्य, अर्थात् जो भी ज्ञान का विषय है वह अनुभूति का धर्म नहीं होता, जैसे रूप। इसी तरह धर्म सभी दृश्य हैं अतः अनुभूति के धर्म नहीं ठहरेंगे। इस तरह अनुभूति की निर्धर्मकता सिद्ध होती है। एकत्व, नित्यत्व, स्वप्रकाशत्व आदि धर्म भी मिथ्या ही है अतएव अपसिद्धान्त आदि दोष नहीं ठहरता। जो कहा जाता है कि निर्धर्मक अनुभूति बौद्ध भी मानता है क्योंकि उसके यहाँ भी अनित्यत्वादि धर्म अनुभूति के स्वरूप ही हैं। अद्वैती के यहाँ नित्यत्वादि धर्म अनुभूति के स्वरूप हैं। जब निर्धर्मक अनुभूति दोनों ही को मान्य है तब इनका आपस में शास्त्रार्थ कैसा ? परन्तु यह ठीक नहीं, शास्त्रार्थ आदि तो व्यवहार में ही बनता है। व्यवहार में नित्यत्व, एकत्व आदि है ही। उसी को लेकर मतभेद और शास्त्रार्थ चल सकता है। अथवा नित्यत्व, एकत्व आदि अनित्यत्व एवं अनेकत्व के निषेध में ही पर्यवसित होता है। ऐसे ही बौद्धों का अनित्यत्व आदि नित्यत्व आदि के निषेध में पर्यवसित होता है, इस दृष्टि से शास्त्रार्थ है। निषेध अधिकरणरूप ही है, उसके द्वारा भी सविशेषता का डर नहीं है।

"इसी तरह अनुभूति के निर्विशेषत्व साधकानुमान में पक्षभूत अनुभूति से यदि लोकप्रसिद्ध ज्ञान ग्राह्य है तो वह आश्रयत्व, विषयत्व, परोक्षत्व, अपरोक्षत्व आदि अनेक विशेषणों से युक्त ही है, तथाच बाध दोष है। यदि वेदान्त-वेद्य ब्रह्मरूप अनुभूति पक्ष है तो वह वेदान्तप्रोक्त विविध विशेषण से युक्त है, अतः तब भी बाध दोष होगा।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सन्दिग्ध साध्यवान् पक्ष होता है, अतः लोकप्रसिद्ध अनुभूति को ही पक्ष कहा जा सकता है। आश्रयत्व, विषयत्व आदि अनुभूति के विशेष प्रमासिद्ध हैं या भ्रमासिद्ध, यह संशय होता है। अनुमान से अनुभूति की निर्विशेषता सिद्ध करके सविशेष्यत्व को भ्रमसिद्ध बताया जाता है। वेदान्तसिद्ध ब्रह्मरूप अनुभूति को पक्ष बनाने में भी कोई बाधा नहीं है; क्योंकि वेदान्तप्रोक्त विशेषबोधक वचन भी उपासना विधिशेष होने से तत्पर नहीं है अतः निर्गुणबोधक तत्पर श्रुति से विरोध होने से वे विशेष भी अपारमार्थिक ही ठहरते हैं।

"अनुभूति सधर्मक है, क्योंकि वह प्रकाशनेवाला पदार्थ है, घटादि के समान"। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बुद्धि वृत्तिरूप अनुभूति को लेकर सिद्धसाधन दोष है। ब्रह्मरूप अनुभूति में घटादि तुल्य प्रकाश्यता है ही नहीं अतः स्वरूपासिद्धि दोष है। स्वप्रकाशत्व हेतु कहें तो दृष्टान्तसिद्धि दोष है। यह भी कहा जाता है कि 'एकत्व, नित्यत्व आदि धर्म वादियों के प्रति प्रमाण से सिद्ध किये जाते हैं अतः उन नित्यत्व, एकत्व आदि धर्मों से युक्त होने के कारण अनुभूति सधर्मक है'। परन्तु यह भी ठीक नहीं; एकत्व, नित्यत्व आदि से अनेकत्व अनित्यत्व का निषेधमात्र अभीष्ट है क्योंकि सविषयत्व आदि निर्विशेषत्व बोधक वचनों से विरुद्ध है।

'रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहम्।
त्वं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये॥'

———

अहमर्थविचार

अद्वैतियों का यह कहना ठीक ही है कि अभावज्ञान में प्रतियोगी और अनुयोगी का ज्ञान आवश्यक होता है, अतः सुप्ति में ज्ञानाभाव का अधिकरणरूप अनुयोगी एवं ज्ञानरूप प्रतियोगी का ज्ञान होना ही चाहिये; इन दोनों के रहते हुए फिर ज्ञानाभाव कैसे कहा जा सकेगा ? यदि कहा जाय कि 'संविद्रूप आत्मा ज्ञानाभाव का अधिकरण नहीं हो सकता किन्तु अहमर्थ ही ज्ञानाभाव का अधिकरण होता है; क्योंकि मैं नहीं जानता इस अनुभव से अहमर्थ को ही ज्ञानाभाव का अधिकरण कहा जा सकता है। इस तरह तो सुप्ति में ज्ञानाभाव के अधिकरणरूप से अहमर्थ का ही प्रकाश सिद्ध होता है, इससे संविद् का प्रकाश नहीं सिद्ध होता।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सुप्ति में अहमर्थ का भान अनुभवविरुद्ध है। सुप्ति में 'मेरे में ज्ञान नहीं था' इसका यही अर्थ है कि अविद्याविशिष्ट प्राज्ञ में ज्ञान (विशिष्ट-ज्ञान) नहीं था। यह कहा ही जा चुका है कि अहं शब्द का लक्ष्य अर्थ अहमर्थभिन्न साक्षी या शुद्ध आत्मा भी होता है। उसी को लेकर 'अहं नाज्ञासिषम्' उस समय मैं कुछ भी नहीं जानता था ऐसी स्मृति होती है। यह स्मृति अहंकार के समकाल में होती है अतः उसमें अहं का प्रयोग जुड़ जाता है। अतएव सुप्ति में 'मैं नहीं जानता हूँ' ऐसा अनुभव होता है यह कहना असंगत ही है। वस्तुतः सुप्ति में भावरूप अज्ञान 'नाहं किञ्चिदवेदिषम्' मैं कुछ नहीं जानता, इस स्मृति से सिद्ध होता है।

विशिष्ट ज्ञानाभाव तो तत्परिचायक रूप से ही सिद्ध होता है। इसी लिये सुप्ति में अहं का प्रकाश मानना सर्वथा निराधार है। जो कहा जाता है कि "अहमर्थ आत्मा का स्वरूप है, वह सदा प्रकाशता रहता है। अहं ऐसा प्रकाश आत्मा का स्वरूप है, अहं ऐसा ज्ञान स्वरूप होकर रहता है। वह अहं ऐसे ज्ञान का आश्रय नहीं है क्योंकि सुप्ति के समय आत्मा में अहं ऐसा धर्मभूत ज्ञान नहीं होता, किन्तु आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान ही अहं ऐसा प्रकाशरूप होकर रहता है। अतएव सुप्ति में 'अहं ऐसा अभिमान करता रहा' ऐसा अनुभव नहीं होता।" परन्तु यह सब कथन निःसार है, क्योंकि यदि सुप्ति में अहं निजरूप से न प्रकाशता हुआ ज्ञानरूप से प्रकाशता है तब तो सुप्ति में अहं का अभाव सिद्ध ही हो गया। यदि अहं विषयक प्रकाशरूप से अहं प्रकाशता रहा तब तो

अहं ऐसा अभिमान भी होना ही चाहिये; और अहंविषयक ज्ञान तो धर्मभूत ही ज्ञान है, सुप्ति में धर्मभूत ज्ञान प्रतिवादी को मान्य ही नहीं। अहंविषयक प्रकाश या अहंविशिष्ट प्रकाश से भिन्न अहन्त्वप्रकारक प्रकाश कुछ भी सिद्ध नहीं होता, श्रुति प्रमाण से तो आत्मा ही सुप्ति में सिद्ध होता है, अहं का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता। प्रत्युत पूर्वोदाहृत श्रुतियों से 'मैं यह हूँ' इस रूप से सुप्ति में अहं का ज्ञानाभाव ही सिद्ध है। हम ही सोते थे, हम ही स्वप्न देखते थे, ऐसे अनुभवों से सुप्ति में अहं लक्ष्य आत्मा का ही अस्तित्व सिद्ध होता है, अहं वाच्य का नहीं। अद्वैती भी 'हम सोते रहे' से प्राज्ञ आत्मा का ही अस्तित्व मानता है, इससे सुप्ति में न अहं का ही सद्भाव सिद्ध होता है न प्रकाश ही सिद्ध होता है।

मुक्ति में भी अहमर्थ नहीं रह सकता। अहंकार ही तो बन्ध है। जब तक उसका बाध नहीं तब तक मुक्ति नहीं कही जा सकती। कहा जाता है "एतमितः प्रेत्याभि संभवितास्मि'—(छा० ३।१४); 'विरजा विपाप्मा भूयासम्'-(तै० १०।१३) ; ब्रह्मलोकमभि संभवामि'–(छा० ८।१३) इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है कि देह से छूटकर इस परमात्मा को प्राप्त करूँगा, मैं गुणरहित होकर पापरहित हो जाऊँ, मैं ब्रह्मलोक को प्राप्त करूँ। यहाँ स्पष्ट मुक्ति में अहमर्थ का सम्बन्ध मालूम पड़ता है। इसी तरह 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः'–(तै० २।१०) से प्रतीत होता है कि आनन्दमय परमात्मा को प्राप्त करके सामगान करता हुआ कहता है—मैं अन्न हूँ, परमात्मा का भोग्य हूँ और परमात्मा भी मेरा भोग्य है। इससे भी मुक्ति में अहमर्थ का अस्तित्व विदित होता है।" परन्तु उक्त कथन ठीक नहीं है। यहाँ सर्वत्र अहं शब्द का प्रयोग अहं पद लक्ष्यार्थ शुद्ध आत्मा में ही है। 'शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशः' इत्यादि अधिकरण में जैसे वामदेव शुद्ध आत्मा में ही अहं शब्द का प्रयोग करते हुए उसके ही सर्वात्मत्व का प्रतिपादन करते हैं, ठीक वैसे ही उक्त सभी स्थलों में शुद्ध आत्मा में ही लाक्षणिक अहं शब्द का प्रयोग है। आत्मा ही अन्न एवं अन्नाद रूप में प्रतिभासित होता है, उससे भिन्न होकर कुछ भी नहीं है, यही 'अहमन्नम्' आदि श्रुति का भी अर्थ है। अतः केवल अस्मि एवं अहं शब्द का प्रयोग देखकर ही सर्वत्र अहंकार का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। इसी तरह कहा जाता है "एष ह्येवानन्दयति', 'रसँह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति'–(तै० २–७) से प्रतीत होता है कि परमात्मा ही सब को आनन्दित करता है,

उसी को पाकर मुक्त प्राणी आनन्दी होता है। यदि मुक्ति में अहमर्थ ही न रहे तो कौन आनन्दी होगा ? यदि आत्मा को 'मैं आनन्द अनुभव कर रहा हूँ' ऐसा अनुभव न हो तो आनन्द का होना न होना एक सा ही होगा।" परन्तु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि मुक्ति में ही नहीं, अपितु उक्त श्रुति से तो यही सिद्ध होता है कि संसार काल में भी परमात्मा ही सब को आनन्दित करता है क्योंकि आनन्द सिवा परमात्मा के अन्यत्र कहीं है नहीं। अतः संसार दशा में भी जो आनन्द मिलता है वह परमात्मा से ही मिलता है। संसार दशा में रस स्वरूप परमात्मा को पाकर प्राणी अनुभव करता है कि मैं आनन्दवाला हूँ।

यह बात अलग है कि वह रस स्वरूप परमात्मा को पहचानता नहीं। सुप्ति में भी सावरण परमात्मा को ही प्राप्तकर प्राणी सुखी होता है। मुक्ति दशा में तो सर्वावरणशून्य, परमानन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्तकर आत्मा स्वप्रकाश सुख स्वरूप ही हो जाता है। उस समय अहमर्थ के द्वारा तद्भिन्न किसी अनुभव सुख का वृत्तिरूप अनुभव मानना उचित नहीं है, क्योंकि द्वितीय या भेद की कल्पना तो दुःख ही है। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति', 'उदरमन्तरं कुरुते', 'अथ तस्य भयं भवति।' द्वितीय की कल्पना से अथवा किंचिद् भी भेद की कल्पना से भय ही होता है। अहमर्थ स्वयं ही संसार है। जहाँ अहमर्थ रहेगा वहाँ उसका धर्म कामादि भी रहेगा। कभी भी धर्महीन धर्मी नहीं रहता है अतः अहमर्थ के रहने पर उसका धर्म भी रहेगा, फिर मुक्ति कैसी ?

———

संवित् निष्प्रपञ्च ही है

कहा जाता है कि "इसी तरह संविद् के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। संविद् रहेगी तो अज्ञान एवं संसार भी बना रहेगा। क्योंकि संसार दशा में संविद् के रहने पर अज्ञान एवं संसार बना रहता है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि संविद् में अज्ञान एवं संसार अध्यस्त ही होता है। संसार और अज्ञान संविद् का धर्म नहीं है। अधिष्ठान के साक्षात्कार से अध्यस्त की निवृत्ति हो ही जाती है। यदि इसी तरह अहमर्थ आत्मा का भी कामादि आरोपित धर्म माना जायगा, तब तो सिद्धान्तभंग होगा क्योंकि प्रतिवादी कामादि को आरोपित नहीं मानता। अतएव उनकी अधिष्ठान साक्षात्कारमात्र से निवृत्ति नहीं मानता। सिद्धान्त में इच्छा, द्वेष, सुख, दुःखादि सब क्षेत्र के धर्म हैं, संविद् के धर्म नहीं। संविद् क्षेत्रज्ञ है, अहंकार भी बुद्धि या अन्तःकरण रूप होने से क्षेत्र ही है। 'कामः, संकल्पो, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, ह्री, धी, भीः एतत्सर्वं मन एव' इस श्रुति में मनरूप अन्तःकरण के ही कामादि धर्म हैं, ऐसा कहा गया है। संसार में भ्रान्तिवशात् क्षेत्र धर्म संविद्रूप क्षेत्रज्ञ में अध्यस्त होता है। मुक्ति दशा में वह अध्यास मिट जाता है। जो कहते हैं कि 'अहमर्थ अहंकार नहीं है अतएव मोक्ष में अहंकार के न रहने पर भी अहमर्थ रहता है'; यह ठीक नहीं। जैसे घट घटार्थ नहीं है यह कहना असंगत है, वैसे ही अहम् अहमर्थ नहीं है यह कहना भी असंगत ही है। फिर यदि अहं शब्द का अहम् अर्थ न मानकर अन्य अर्थ मान्य है तब तो अहं शब्द का निर्विशेष संविद्-रूप आत्मा ही अर्थ मान लीजिये, फिर कोई विवाद ही नहीं रह जाता। अहमर्थ को आत्मा न मानने से मोक्ष शास्त्र का कोई अधिकारी न मिलेगा, इत्यादि बातों का समाधान पर्याप्त रूप में किया जा चुका है। जैसे दुःखविशिष्ट प्राणी निर्दुःख होने का प्रयत्न करता है, वैसे ही सोपाधिक आत्मा (अहंकारविशिष्ट चैतन्य) निरुपाधिक आत्मा होने के लिये प्रयत्न कर ही सकता है। अतएव राज्य चाहनेवाले का शिरश्छेद जैसी कल्पना नहीं की जा सकती है। यों तो देहादि विशिष्ट भी स्वात्मनाश की कल्पना से मोक्ष में नहीं प्रवृत्त होगा, अतः जैसे देहादि विशिष्ट का नाश आत्मनाश नहीं है वैसे ही अहंकारादि विशिष्ट का नाश भी आत्मनाश नहीं है। 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति' (श्वे० ३

अ०) इत्यादि श्रुतियाँ भी संविद्रूप आत्मा का ही अमृत होना कहती हैं। 'अविद्या के द्वारा जो मृत्युमान् था वही विद्या के द्वारा अमृत होता है। जो मृत्युवाला था वही अमृत होता है', इत्यादि अर्थ करने का आग्रह 'सारशून्य है।' तत्त्व साक्षात्कार से मर्त्य की मृत्यु एवं बाध्य का बाध होता ही है।

'इह मर्त्यो अमृतो भवति' इत्यादि श्रुति का यही अर्थ है कि अविद्याध्यारोपित मृत्युवाला संविद्रूप आत्मा विद्या के द्वारा अध्यारोप का बाध करके अमृत हो जाता है अर्थात् उसका स्वाभाविक अमृतत्व व्यक्त होता है; अतएव 'विमुक्तश्च विमुच्यते' विमुक्त ही विमुक्त होता है यह भी कहा गया है। अतएव 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव' भवति' (मु० ६-२); 'सर्वं ह पश्यः पश्यति' (छा० ७।२६) इत्यादि श्रुतियों से विरोध बतलाना भी निराधार ही है। यहाँ सर्वत्र सोपाधिक आत्मा ब्रह्म को जानकर निरुपाधिक ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, यही कहा गया है। मुक्त ज्ञान स्वरूप होकर अपने में अध्यस्त सभी विषयों का प्रकाशन करता है, यही अर्थ है। यहाँ अहंकारविशिष्ट ज्ञाता नहीं ग्राह्य है क्योंकि वह सर्वद्रष्टा नहीं बन सकता। अहंकारविशिष्ट तो तत्तत्प्रमाणों के परतन्त्र सीमित ही ज्ञानवाला होता है। ब्रह्म जाननेवाला ब्रह्म होता है, यह वचन भी प्रतिवादी के प्रतिकूल ही है। अब्रह्म का ब्रह्म होना असंभव ही है। जो ब्रह्म तो हो किन्तु अविद्या से उसमें अब्रह्मत्व का आरोप हो रहा हो, वहीं विद्या से अब्रह्मत्व निवृत्ति एवं ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है। उसी ब्रह्म में अहंकारवैशिष्ट्य होने से ज्ञातृत्व आदि भी उपपन्न होता है, यह पूर्वाचार्यों ने कहा ही है।

अक्षमा भवतः केयं साधकत्व प्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तथैवाज्ञान कल्पितम्॥

अर्थात् ब्रह्म में साधकत्व ज्ञातृत्व आदि की कल्पना में ही क्यों असहिष्णुता है? संपूर्ण संसार को ही उसी ब्रह्म में अज्ञान से कल्पित क्या नहीं देखते हो। यदि मोक्ष में ज्ञातृत्वरूप कर्तृत्व का योग रहेगा तो वह निर्विकार मोक्ष ही नहीं हो सकता। कहा जाता है "अद्वैतियों के अनुसार अध्यास एक वृत्ति है और वह अन्तःकरण का धर्म है अतः अन्तःकरण भले ही दुखी एवं श्रोता आदि बने परन्तु संविद्रूप आत्मा में यह सब नहीं हो सकता"। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वेदान्तियों के मत में अध्यास अविद्या वृत्ति है, अन्तःकरण वृत्ति नहीं अतः अविद्यावान् आत्मा में ज्ञातृत्व मन्तृत्व आदि सब बन ही सकता है।

वस्तुतः ज्ञातृत्वादि न होना इष्ट ही है, अतएव 'अहमर्थ की आत्मा को मुक्त करनेके लिये प्रवृत्ति वैसी ही होगी जैसे मरणशय्या पतित प्रियतमा को उज्जीवित करने के लिये पति का अपना शिर काटकर देवी को बलिदान करना।' यह कथन भी निःसार ही है क्योंकि स्वर्गादि के लिये स्वयं ही यज्ञादि द्वारा तथा परोपकारादि के लिये स्वात्मनाश भी प्रसिद्ध ही है। यदि कहा जाय कि वहाँ तो देहादि का नाश आत्मनाश रूप से प्रसिद्ध है, वास्तविक आत्मा तत्फल-भोक्ता अनष्ट ही रहता है तो यहाँ भी उसी तरह समझ लेना चाहिये। प्रकृत में भी अहंकार ही का नाश होता है। अहंकारोपलक्षित आत्मा यहाँ भी मुक्ति-फलभागी बना ही रहता है। जैसे अज्ञानी भ्रम से देहादि को आत्मा मानता है वैसे ही भ्रम से ही अहं को भी आत्मा माना जाता है। फिर भी देहादि सहित में साधकत्व आदि होता है वैसे ही अहंकार सहित में साधकत्वादि होता है। जैसे साध्य देह में ही साधकत्व होता है वैसे ही साधिष्ठान अहं में साधकत्वादि होता है। जैसे देह के नष्ट होने पर भी आत्मा अवशिष्ट रहता है वैसे ही अहं के नष्ट होने पर भी अधिष्ठान अवशिष्ट रहता है। केवल आत्मा में मोक्षार्थ प्रयत्न अनुपपन्न होने पर भी अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य में प्रयत्न आदि उपपन्न ही होते हैं। जब अविद्या एवं तत्कार्य अन्तःकरणादि का भी अधिष्ठान चैतन्य ही है तब सुतरां आत्मा में ज्ञातृत्वादि की आश्रयता के तुल्य अध्यासाश्रयता होने में भी कोई आपत्ति नहीं होती। जब रज्जु में कल्पित सर्प की आश्रयता बनती है तो भय कम्पन आदि जनकत्व का आश्रय होने में क्या बाधा होगी? कहा जाता है 'अद्वैत मत में चैतन्य बन्ध का आश्रय नहीं होता।' परन्तु यह भी ठीक नहीं; जिस परमार्थ दृष्टि से चैतन्य बन्ध का आश्रय नहीं होता उस दृष्टि से वह मोक्ष का भी आश्रय नहीं होता। आरोप दृष्टि से दोनों ही आत्मा में बनते हैं। अतएव श्रीमद्भागवत का वचन है—

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौस्तऋतज्ञ भावात्।
अजस्रचिन्त्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनो॥

अर्थात् भव बन्ध एवं मोक्ष दोनों ही सत्य ज्ञानानन्तानन्दस्वरूप आत्मा में वस्तुतः वैसे ही नहीं हैं जैसे सूर्य में दिन रात नहीं होते। अन्य की दृष्टि से जैसे सूर्य के कारण ही सूर्य के सन्निधान में दिन एवं असन्निधान में रात्रि की कल्पना होती है वैसे ही अविद्या प्रत्युपस्थापित अहङ्कारादि से विशिष्ट चैतन्य में ही निरावरण ब्रह्मदृष्टि से मोक्ष की एवं सावरण ब्रह्मदृष्टि से बन्ध की

कल्पना होती है। जैसे अन्यारोपित वह्नि के द्वारा गुञ्जापुञ्ज का दाह नहीं होता वैसे ही अहंकारादि के योग से बन्ध का आरोप होने पर भी वस्तुतः आत्मा नित्यमुक्त ही है; यह आपादन दूषण नहीं भूषण ही है।

कहा जाता है "अवाञ्छित विशेषणों से विशिष्ट पदार्थ यदि उन विशेषणों को त्यागकर बना रहे तो वही स्थिति मोक्ष कहने योग्य हो सकती है, परन्तु यहाँ तो अवाञ्छित विशेषणों के साथ अहं को भी नष्ट होना पड़ता है। फिर उसे मोक्ष कैसे कहा जाय? जैसे रोगनिवृत्ति के लिए आत्महनन कर लेना बुद्धिमानी नहीं उसी प्रकार अहंकार का नाश भी मोक्ष नहीं"। परन्तु यह कथन भी निःसार है क्योंकि प्रकृत में भी अहंकारविशिष्ट आत्मा अहंकाररूप विशेषण को त्यागकर स्थित रहता ही है। फिर तो प्रतिवादी की परिभाषा के अनुसार भी अद्वैत सिद्धान्त के मोक्ष में कोई बाधा नहीं। रोगादि निवृत्ति के लिए देहादि सम्बन्ध विच्छेदार्थ प्रतिवादी भी प्रयत्नशील होता ही है। तभी तो देहादि सम्बन्ध शून्य मोक्ष का प्रयत्न प्रतिवादी भी करता ही है। वस्तुतः जैसे कोयला के रहते हुए उससे कारिख की निवृत्ति की आशा रखना व्यर्थ है वैसे ही अहंकार के रहते हुए उससे अवाञ्छित विशेषणों की निवृत्ति की आशा रखनी व्यर्थ है। अहंकार में संसार वैसा ही है जैसे कोयले में कालापन। किन्तु आत्मा में संसार वैसा है जैसे स्वच्छ वस्त्र में कोयले के संसर्ग से कालापन होता है। स्वच्छ वस्त्र में कोयले के संसर्ग से आनेवाला कालापन मिट सकता है परन्तु कोयले से कालापन नहीं मिट सकता। प्रकृत में अहंकार के द्वारा आत्मा में संसार आरोपित है अतः उसकी निवृत्ति संभव है, परन्तु अहङ्कार से संसार की निवृत्ति असंभव ही है। जैसे कोई सुन्दरी भिक्षुकी भिक्षा में अभिनिविष्ट होकर भिक्षुकीत्व को छोड़कर साम्राज्ञी भी नहीं बनाना चाहती वैसे ही कई देहात्मवादी देह छोड़कर मुक्ति भी नहीं चाहते। ऐसे ही लोग शृगाल बनकर रहना पसन्द करते हैं परन्तु देहहीन मोक्ष को आत्मनाश ही मानते हैं, वैसे ही कई लोग अहङ्कार में अभि-निविष्ट होकर अहङ्कारहीन मोक्ष से भी डरते हैं। इसी लिये गौडपादाचार्य ने कहा है कि सर्वदृश्यविहीन अद्वैतात्मविज्ञान अस्पर्श योग है। यह ब्रह्मविद् के अतिरिक्त सर्वयोगियों के लिये दुर्दश है। इसी लिये वे लोग इस निर्भय पद से भी भयभीत होते हैं।

"अस्पर्श योगो नामैष दुर्दशः सर्वयोगिनाम्।
योगिनो बिभ्यतिह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥"

अतएव 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' इस बादरायण सूत्र के अनुसार अद्वैतियों के सिद्धान्तानुसार मोक्ष उपपन्न होता है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विकारवान् कभी निर्विकार ब्रह्म स्वरूप से अवस्थित हो नहीं सकता। किन्तु अद्वैत सिद्धान्तानुसार सदा नित्य निर्विकार अनन्त सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही अविद्या से प्रपञ्चारोपवान् होकर बद्ध एवं विद्या से प्रपञ्चापोह दशा में मुक्त कहा जाता है।

"सकलवाङ्मनसाति गता चितिः,
सकल वाङ् मनस व्यवहार भाक्।" (संक्षेप शारीरक)

सकल वाङ्मनसातीत नित्य निर्विकार ब्रह्म ही सकल वाङ्मनस व्यवहार गोचर होता है। कृपणधी प्राणी ही परिणाम पक्ष का सहारा पकड़ता है, क्षपितकल्मष विद्वान् विवर्तवाद का आश्रयण करता है। स्थिरमति स्थितप्रज्ञ तो व्यपगत द्वितय परम पद का ही सदा अनुभव करता है।

"कृपण धीः परिणाममुदीक्षते, क्षपितकल्पष धीस्तु विवर्तताम्।
स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते व्यपगतद्वितयं परमं पदम्॥"

अहमर्थ का अशुद्ध रूप और शुद्ध रूप सभी संसार ही है। जो अनुष्ठाता है वह कभी अकर्ता नहीं हो सकता जो अकर्ता नहीं वह अभोक्ता भी नहीं हो सकता; ऐसी स्थिति में प्रतिवादी का मोक्ष एक प्रकार का स्वर्ग ही ठहरेगा। अतः अहमर्थ कर्ता भोक्ता का मोक्ष में अस्तित्व मानना मोक्ष तत्त्व का उपहास ही करना है।

अहङ्कार पर अन्यान्य शङ्काएँ

अहंकार क्या है इस सम्बन्ध में अनेक विकल्पों का उत्थापन एवं निराकरण व्यर्थ है क्योंकि प्रतिवादी भी जीव से भिन्न एक अहंकार मानता ही है और वह प्रति जीव भिन्न भी मानता है। सांख्य का श्रुतिसम्मत तत्त्व ही मान्य है। अनेक अंशों में सांख्य मत का निराकरण भगवान् व्यास ने ही किया है। सांख्य के महत्तत्व के समान ही वेदान्त में ईक्षण (तदैक्षत) का वर्णन मिलता है। जैसे महत्तत्व के अनन्तर सांख्य में अहं का वर्णन है वैसे ही वेदान्त में 'एकोऽहं बहु स्याम्' इस वाक्य में अहं का वर्णन है। यहाँ ईक्षण एवं सृष्टि के बीच में व्याचिकीर्षावान् अहं का वर्णन है। 'अहंकारश्चाहं कर्तव्यश्च', 'महाभूतान्यहंकारो' इत्यादि श्रुति स्मृतियों में भी अहंकार का वर्णन है। रहा यह कि सांख्य मत में अहंकार एक है परन्तु अद्वैतियों के यहाँ वह प्रति जीव भिन्न है तो भी कोई दोष नहीं, समष्टि व्यष्टि में तुल्यता सर्वत्र मान्य होती है। सुषुप्ति में अनुभूयमान निद्रा या अज्ञान ही समष्टि माया या अविद्या का प्रतीक है। जैसे व्यष्टि देह या पिण्ड समष्टि ब्रह्माण्ड का प्रतीक होता है। उसी तरह समष्टि माया का व्यष्टि निद्रा प्रतीक है। उसी तरह समष्टि महत्तत्त्व का व्यष्टि बुद्धि प्रतीक है, वैसे ही समष्टि अहं तत्त्व का प्रतीक व्यष्टि अहंकार है। निद्रा में अन्तःकरण एवं अविद्यांश भी अति सूक्ष्म प्रकृति भावापन्न होकर रहते हैं। तात्पर्यवशात् शब्दों का अर्थ होना ही उचित है अतएव 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' यहाँ पर गो शब्द का गोविकार पय आदि ही अर्थ गृहीत होता है।

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेवच।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥"

यहाँ पर मन का अर्थ मनःकारण अहंकार ग्राह्य है। बुद्धि शब्द से अहन्तत्त्व का कारण महत्तत्त्व ग्राह्य है एवं अहंकार शब्द से महत्तत्त्व का कारण अव्यक्त ग्राह्य है। तभी 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' इस वचन के साथ उक्त वचन का समन्वय होता है।

अहंकार की अनित्यता में भी हानि नहीं

कुछ लोग कहते हैं "चार्वाक तो जन्म से लेकर मरण पर्यन्त रहनेवाले देह में अहन्त्व मानते हैं परन्तु अद्वैती प्रत्येक सुप्ति में अहंकार का लय मानते हैं। चार्वाक मत में मरण पर्यन्त अहमर्थ बना रहता है परन्तु अद्वैतियों के यहाँ प्रति सुप्ति में अहमर्थ का नाश माना जाता है।" परन्तु उनका यह कथन निःसार है, कारण एक अद्वितीय शुद्ध ब्रह्मरूप आत्मा से अतिरिक्त सभी वस्तु अद्वैतियों के मत में वस्तुतः है ही नहीं। फिर उसके स्थायित्व अस्थायित्व का विचार गौण हो ही जाता है। सांख्यवादी भी चिति शक्ति को छोड़कर सभी पदार्थों को क्षणपरिणामी मानते ही हैं, 'क्षणविपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः'। प्रतिवादी भागवतादि पुराणों को प्रमाण मानता ही है। वहाँ स्रोतःप्रवाह एवं अर्चि आदि के तुल्य ही सभी पदार्थों को क्षणभङ्गुर कहा ही गया है। यथा—

"नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते॥
यथार्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः॥
सोऽयंदीपोऽर्चिषां यद्वत् स्रोतसां तदिदं जलम्।
सोऽयंपुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम्॥"
(श्री० भा० स्कं० ११, अ० २२, श्लो० ४२-४३-४४)

हे उद्धव! सभी भूत नित्य ही उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं परन्तु अलक्ष्य वेगवाले काल की महिमा से भूतों का सूक्ष्म उत्पत्ति विनाश दिखायी नहीं देता। जैसे अर्चि (ज्वालाओं), स्रोत (नदियों) तथा वनस्पति के फलों की भिन्न अवस्थाएँ विदित नहीं होतीं उसी तरह भूतों के भी सूक्ष्म वय एवं अवस्थायें विदित नहीं होतीं। जैसे ज्वालाओं और स्रोतः प्रवाहों में भेद रहने पर भी 'सेयं ज्वाला', 'तदिदं जलम्' इस रूप से एकता प्रतीत होती है, वैसे ही मनुष्यादि देहों में भेद होने पर 'सोऽयं पुमान्' ऐसी बुद्धि और व्यवहार होता है। फिर प्रतिवादी ने चार्वाक से बढ़कर अहमर्थ को सर्वथा नित्य भी मान लिया तो भी कोई पुरुषार्थसिद्धि नहीं किन्तु श्रुति पुराणादि विरोध भी उसके गले पड़ेगा।

अहङ्कार का अविद्या में विलीन होना

कुछ लोग कहते हैं कि "अन्तःकरण जब अविद्या का कार्य न हो कर पञ्चभूत का कार्य है तो उसका अविद्या में लय भी कैसे हो सकता है? जब सुप्ति में भूतपञ्चक भी विराजमान रहता है तब तत्कार्य अंतःकरण का सुप्ति में लय होना कैसे संगत हो सकता है? सुप्ति में अन्तःकरण भूत रूप से भले ही रहे परन्तु वह अविद्या रूप से कैसे रह सकता है?" परन्तु यह शंका भी निराधार ही है क्योंकि अन्तःकरण एवं तद्विकार वृत्ति आदि भौतिक होते हुए भी साक्षिभास्य हैं। साक्षिभास्य पदार्थ अज्ञात होकर नहीं रहते। वे जब भी होंगे सुखादि के तुल्य ज्ञात होकर ही रहेंगे। अन्तःकरण अहंकार आदि भी ज्ञात होकर ही रहते हैं। सुप्ति में अन्तःकरण एवं उसके धर्म इच्छादि भासित नहीं होते। श्रुति पुराणादि भी उसका अभाव बतलाते हैं यह पीछे दिखाया जा चुका है; इसलिये अहंकार आदि का अविद्या में लय मानना पड़ता है। अहंकार का अविद्या में लय मानने के लिये तदुपादानभूत भूतांश का भी अविद्या में लय होना असंगत नहीं है।

कहा जाता है कि "अहंकार का लय होने से संस्कारों का भी नाश होगा फिर उत्तरोत्तर अहमर्थ को पूर्व के अहमर्थों के अनुभूत अर्थों का स्मरण नहीं हो सकेगा।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि स्मरणरूप कार्यदर्शन के बल से संस्कारों का भी अविद्यारूप में अवस्थान मान्य ही है। अतएव जन्मान्तरीय नहीं कल्पान्तरीय संस्कार भी विशिष्ट स्थानों में स्मरणादि जनक माने जाते हैं।

यह शंका भी निर्मूल है कि पृथक् दिनों के अहंकार पृथक् ही होते हैं। उनमें अभेद नहीं है फिर अन्य अहंकार से अनुभूत विषय का अन्य अहंकार कैसे स्मरण कर सकेगा? क्योंकि यह कहा जा चुका कि एक ही अहंकार प्रतिदिन सुप्ति मे अविद्या और जागर में अन्तःकरणरूप में प्रकट होता रहता है।

'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।'

इत्यादि वचनों के अनुसार वही भूतग्राम प्रति सुप्ति, प्रति प्रलय उत्पन्न हो होकर प्रलीन होते रहते हैं। कहा जाता है "सोते समय जीवों के अहंकार नष्ट होकर कारणीभूत अविद्या में बने रहेंगे तो उस अविद्या में विद्यमान संस्कार

प्रतिनियत अहंकारों में कैसे पहुँच सकेंगे ? एक ही अविद्या से जगते समय सभी अहंकार नये सिरे से उत्पन्न होंगे। वे संस्कार जो पूर्व दिन में अहंकार में थे, निद्रा या अविद्या में पहुँचकर जागरण में किसी अहंकार में पहुँच सकते हैं, फिर अन्यानुभूत विषयों का स्मरण अन्य पुरुषों को होना चाहिये। संस्कारों के सामने सभी नूतन अहंकार समान ही हैं।" परन्तु यह सब कथन अविचारमूलक है क्योंकि यह पीछे कहा जा चुका है कि विभिन्न अहंकार और उनके कारण-भूत अविद्यांश अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। संस्कारविशिष्ट अन्तःकरण जिस अविद्यांश में लीन होता है वह अविद्यांश पुनः उसी संस्कारविशिष्ट अन्तःकरण-रूप में परिणत होता है। जिनके यहाँ निरन्वय नाश का सिद्धांत है वहीं यह सब आपत्ति उठ सकती है। सान्वय नाश में सूक्ष्म रूप से सब वस्तु कारणा-वस्था को प्राप्त होती है, वही फिर भी कार्यावस्था को प्राप्त होती है। प्रलय काल में प्रतिनियत कार्यक्षम सब वस्तुएँ परमेश्वर में लीन होकर भी जैसे उत्पत्ति के समय प्रतिनियत कार्यक्षम ही उत्पन्न होती हैं, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। क्षीर नीर के मिश्रण होने पर सर्वसाधारण के लिये विवेक दुःशक होने पर भी हंस के लिये विवेक दुर्गम नहीं है। समुद्र में विभिन्न स्रोतों, सरिताओं के जल मिल जाने पर भी ईश्वर के लिये वह दुर्विवेच्य नहीं होता है, इसी तरह विभिन्न प्रतिनियत कार्यकारणभावोपेत विश्वप्रपञ्च परमेश्वर में लीन हो जाने पर भी दुर्विवेच्य नहीं होता। ठीक वैसे ही प्राणि-कर्मसापेक्ष ईश्वरीय शक्तिविशेष से ही प्रति सुषुप्ति में संस्कारविशिष्ट अन्तःकरण अविद्यांश में लीन होते हैं। उत्पत्ति के समय पुनः अविद्या से प्रत-नियत संस्कारविशिष्ट अन्तःकरणों की उत्पत्ति होती है। यह नाश आदि सान्वय होता है अतः अहंकार की अभिन्नता भी बनी रहती है। इसी कारण अनुभव एवं स्मरण की सामानाधिकरण्य व्यवस्था निर्विघ्न रूप से उपपन्न होती है। कुछ लोग कहते हैं कि 'इस तरह तो लाघवात् उन विभिन्न अविद्यांशों को अहंकार मान लेना चाहिये।' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि जाग्रत् का कार्य अविद्यामात्र के द्वारा नहीं चल सकता, तदर्थ अविद्यांश परिणाम अहंकार आदि मानना आवश्यक है। अतएव श्रुति से जाग्रत् में अहंकार की सत्ता, सुषुप्ति में उसका लय आदि का कथन संगत होता है।

यह भी कहा जाता है कि "तद्गुण सारत्व', ब्र० सू० २।३।२९ के शाङ्कर भाष्य में अनादि बुद्धि को जीव की उपाधि कहा गया है, और जीव के साथ उस अनादि बुद्धि का सम्बन्ध माना गया है। 'पुंस्त्वादिवत्तस्य सतोऽभिव्यक्त्ययोगात्'

ब्रह्मसूत्र २।३।३१ में सुषुप्ति एवं प्रलय में भी शक्तिरूप में बुद्धि की सत्ता मानी गयी है। 'नित्योपलब्ध', ब्र० सू० २।३।३२ के भाष्य में उस उपाधि को अन्तःकरण, मन, बुद्धि, विज्ञान, चित्त आदि शब्दों से बोध्य माना गया है। इससे जान पड़ता है कि सुप्ति एवं प्रलय में बना रहनेवाला पदार्थविशेष ही आत्मा की उपाधि मान्य है, अतः उस उपाधि को ही अहं बुद्धि का विषय मानना उचित है। वह उपाधि अविद्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। फिर तो अविद्या ही अहं शब्द वाच्य ठहरती है। सुप्ति में अहंकार का लय गौण है। सुप्ति में उसका व्यापार बन्द हो जाता है। सुप्ति में अभिमान, अध्यवसाय, संकल्प आदि वृत्तियों का अभाव मान्य ही है। अतः सुप्ति में अहंकार का लय मानना उपर्युक्त शांकर भाष्य से मेल नहीं रखता।" परन्तु यह सब कथन निराधार है। उपर्युक्त कथन में ही स्पष्ट है कि अन्तःकरण, बुद्धि, चित्त, विज्ञान आदि शब्द वाच्य पदार्थ आत्मा की उपाधि मान्य है; साथ ही सुप्ति एवं प्रलय में उसकी स्वरूप से नहीं किन्तु शक्तिरूप से अवस्थिति मान्य है। अन्तःकरण के द्वारा ही शक्ति में संकल्प, अध्यवसाय आदि बन सकते हैं। तभी सुप्ति में शक्ति या अविद्यारूप में बुद्धि आदि के रहने पर भी उस समय संकल्प, अध्यवसाय आदि नहीं होता। उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह निकालना कि अविद्या ही अहंकार है, सर्वथा निराधार है। सुषुप्ति में उपाधि का लय होता है, इस कथन का स्पष्ट अर्थ यही है कि बुद्धिरूप उपाधि का लय होता है। किन्तु अविद्यारूप में स्थित उपाधि तो रहती ही है। मैं सुख से सोया इस प्रतीति में जाग्रत् काल का ही मैं भासित होता है। इससे सुप्ति में मैं का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता यह सब विस्तार से कहा जा चुका। वह अन्तःकरण साधिष्ठान एवं साभास होता है। वही अहं का मुख्य अर्थ है। शुद्ध आत्मा अहं शब्द का लक्ष्यार्थ है। देहादि अहं पद का गौण अर्थ है। अहंकार को ही चिदचिद्ग्रन्थि भी कहा जाता है क्योंकि केवल असंग चेतन में कर्तृत्व भोक्तृत्वादि नहीं बनता। केवल जड़ अन्तःकरण में भी यह सब नहीं बन सकता। अतः अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य या साधिष्ठान साभास अन्तःकरणरूप चिदचिद्ग्रन्थि में ही यह सब बन सकता है।

कहा जाता है "केवल अहंकार को अहमर्थ मानने पर भी यह व्यवहार बन सकता है क्योंकि अहंकार में अद्वैती चैतन्य का अध्यास मानते हैं, तथा अहंकार में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि मानते हैं। तथाच अध्यस्त चैतन्य और कर्तृत्व, भोक्तृत्व को लेकर 'मैं कर्ता मैं भोक्ता हूँ' इस प्रतीति का निर्वाह हो जाता है।" परन्तु यह

कहना भी अशुद्ध है। कारण जब चैतन्याध्यास युक्त अहंकार में उक्त प्रतीति मान्य है तब फिर केवल अहंकार में उक्त प्रतीति की उत्पत्ति कैसे कही जा सकती है? फिर तो साभास अन्तःकरण में ही कर्तृत्वादि व्यवहार ठीक है। वस्तुतः अहंकार में चैतन्य के संसर्ग का ही अध्यास होता है, चैतन्य स्वरूप का अध्यास नहीं होता। स्वरूपाध्यास तो अहंकारादि का ही माना जाता है। इसी तरह अहंकारावच्छिन्न चैतन्य को अहमर्थ मानने पर उसमें 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार ज्ञानाश्रयता नहीं बन सकती और कर्तृत्वादि भी उसमें नहीं बन सकता, यह कहना भी असंगत ही है। क्योंकि केवल चैतन्य में ज्ञातृत्व कर्तृत्वकी आश्रयता न बन सकने पर भी विशिष्ट या उपहित में ज्ञातृत्वादि होने में कोई भी आपत्ति नहीं। चैतन्याध्यास से अहंकार में ज्ञातृत्व कर्तृत्व मान्य होता है तब भी, केवल अहंकार में ज्ञातृत्वादि नहीं कहा जा सकता। अहंकारविशिष्ट में भी ज्ञातृत्वादि आरोपित होने में कोई आपत्ति नहीं। शुद्ध आत्मा तो अहं का वाच्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ ही है। जब साभास अहंकार ही अहमर्थ है तब वही अस्मद् और वही युष्मद् शब्द का भी गोचर होगा। इसी लिये जो अहमर्थ है वही त्वमर्थ भी है। अतएव शास्त्रों में तत्त्वरूप से अहंकार ही वर्णित है। त्वंकार कहीं भी तत्त्व नहीं कहा गया है। एक साभास अहंकार के स्वपुरोवर्त्ती अन्य साभास अहंकार में त्वंकार का प्रयोग होता है। इसलिये त्वङ्कार विषय भी साभास अहंकार ही है। अहं बुद्धि भले त्वं बुद्धि की विरोधिनी हो परन्तु अहंकार तत्त्व त्वङ्कार बुद्धि का विरोधी नहीं है। इस विषय में पीछे बहुत कुछ कहा ही जा चुका है।

यद्यपि अन्यत्र महान् से अहंकार की उत्पत्ति कही गई है तथापि वेदान्त में समष्टि बुद्धि को भी महत्तत्त्व कहा जाता है। बुद्धि पंचभूतों के समष्टि सात्त्विक अंशों से निर्मित होती है। वेदान्त में यद्यपि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एक ही अन्तःकरण की अवस्थाएँ हैं तो भी, बुद्धिपूर्वक अहंकार का उल्लेख होता है। इसी दृष्टि से अहं में बुद्धि का आनन्तर्य कहा गया है। 'पञ्च वृत्ति मनोवद्व्यपदिश्यते', ब्रह्मसूत्र २।४।११ के अनुसार अद्वैतिसंमत अन्तःकरण भूतों के समष्टि सात्विक अंश का कार्य है। यह अद्वैति मत श्रुतिसम्मत है। ईक्षण एवं व्याचिकीर्षा के अनन्तर ईश्वर ने मन को बनाया और वह मन भौतिक है तभी 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' यह श्रुति मन को अन्नमय कहती है। यहाँ अन्न शब्द से अन्नप्रधान पंचभूत ही कहा गया है। उसी तरह 'आपोमयः प्राणः', 'तेजोमयी वाक्' आदि स्थलों में भी अप्प्रधान, तेजःप्रधान पंचभूत ही लिये गये हैं। विष्णु पुराण वर्णित मन के सात्विक अहंकारजन्य होनेवाली

बात भी ठीक ही है। दोनों बातों का समन्वय निम्नलिखित प्रकार से कर लेना आवश्यक है। पुराणों एवं महाभारत आदि में सृष्टिप्रक्रिया में बहुधा सांख्योक्त सृष्टिपद्धति परिलक्षित होती है। श्रुतियों तथा गीता में भी 'महतः परमव्यक्तं', 'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' इत्यादि रूप से सांख्यसम्मत तत्त्व प्रतिपादित प्रतीत होते हैं। 'अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णाम्' इत्यादि से भी त्रिगुणात्मिका प्रकृति का वर्णन प्रतीत होता है। परन्तु ब्रह्मसूत्र में भगवान् व्यास ने उक्त सभी वचनों का अर्थान्तर वर्णनकर सांख्य सिद्धांत को अशब्द अश्रौत कहकर उसे अनुमान पर आधारित ही बतलाया है। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्', लोहित, शुक्ल, कृष्ण अजा को तेजोवन्नात्मिका प्रकृति कहा है। उसे ही छागी की उपमा देने के लिये अजा कहा है। अव्यक्त आदि का भी शरीरविशेष ही अर्थ किया गया है। इस दृष्टि से ईक्षण में महत्तत्व और व्याचिकीर्षा में अहन्तत्त्व का अन्तर्भाव हो जाता है। अहं शब्द का प्रयोग अहंकार्य पंचतन्मात्रा या अपञ्चीकृत पञ्च महाभूत में किया गया है। फलतः अहंकार के सात्विक, राजस, तामस अंशों से होनेवाली सृष्टि सूक्ष्म भूतों के ही सात्विक, राजस, तामस अंशों की सृष्टि समझनी चाहिये। समष्टि भूतों के सात्विक अंश से उत्पन्न मन इसी दृष्टि से आहङ्कारिक कहा जा सकता है।

कुछ लोग कहते हैं "भगवान् व्यास का यह सब प्रयास वेद वेदान्तों की ब्रह्ममात्रपर्यवसायिता बतलाने के लिये है। इसी लिये ब्रह्मनिरपेक्ष स्वतंत्र प्रकृतिपोषक सांख्य मत निराकरण में उन्होंने बल लगाया है"। परन्तु जब वही प्रकृति स्वतन्त्र न रहकर ब्रह्म की अनिर्वचनीय शक्तिमात्र रह जाती है तब उक्त श्रुति, स्मृति, पुराणों का यथाश्रुत अर्थ मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं है। इस पक्ष में भी समष्टि अहंतत्व ही अहंकार है, परन्तु व्यष्टि में अहन्तत्व का सात्विक कार्य मन या अन्तःकरण ही अहंकार रूप में ग्राह्य है। वही साभास, साधिष्ठान होकर अहमर्थ होता है। अतएव सांख्यीय अहंतत्व के एक होने पर भी वेदान्तीय अहंकार प्रतिजीव भिन्न होता है। अद्वैती भी मन या अन्तःकरण ही नहीं, किन्तु सूक्ष्म शरीर को ही सृष्टि के आरंभ काल में उत्पन्न एवं प्रलय काल में प्रलीन होनेवाला मानते हैं। कारणशरीर अविद्या का ब्रह्म तत्व साक्षात्कार से ही बाध मानते हैं। फिर भी प्रति सुषुप्ति अहंकार का प्रलय एवं प्रतिबोध निर्माणप्रतीति के अभिप्राय से मान्य है। सुषुप्ति में अहंकार स्वरूपेण भासमान नहीं होता। जाग्रत् में वैसा भासमान होता है। जिस अविद्यांशरूप से सुप्ति में अहंकार रहता है वही अविद्यांश जाग्रत् में अहंकाररूप से भासमान होता है। जैसे

द्रुत एवं अद्रुत (कठिन) घृत रूप में एक ही तत्व मान्य होता है वैसे ही अहंकार एवं तदवस्थाविशेषभूत अविद्यांश एक ही वस्तु है। वह सृष्टि से लेकर प्रलय पर्यन्त रहता है। समष्टि प्रलय में समष्टि अहङ्कार का माया में लय होता है, सुप्ति में व्यष्टि अहङ्कार का निद्रा में लय होता है।

अहंकार की बहुधा उपपत्ति

जैसे समष्टि में मायाविशिष्ट चैतन्य ईक्षण (महत्तत्व) तथा 'एकोऽहं बहुस्याम्' मैं एक हूँ अनेक बनूं, इस तरह अहङ्कारपूर्वक सिसृक्षा से आकाशादि का निर्माण करता है, वैसे ही व्यष्टि में जीव भी निद्रा से प्रबुद्ध होकर अहंकार-पूर्वक कार्य करता है। यहाँ भी निद्रा अज्ञान या मायास्थानीया है। निद्रा के अनन्तर होनेवाले प्रबोध काल की बुद्धि महत्तत्व का अंश है। बुद्धि के अनन्तर अहं का उल्लेख होता है तभी अन्य सब प्रपञ्च व्यवहार होता है, अतः यह अहङ्कारसमष्टि अहङ्कार का ही अंश है। समष्टि प्रलय में समष्टि अहंकार का प्रलय होता है। व्यष्टि सुप्ति में व्यष्टि अहंकार का विलय होना स्वाभाविक ही है। सांख्य का जितना सिद्धान्त वेद-वेदान्तादि ग्रन्थों के अविरुद्ध है उतना ही मान्य है, अतः सर्वथा सांख्य मतानुसारी वेदान्त सिद्धान्त न होना दूषण नहीं है।

———

अहमर्थ एवं भूमविद्या

'सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रतिसन्धान की अन्यथानुपपत्ति से यह नहीं कहा जा सकता कि सुषुप्ति में प्रतिसन्धीयमान सभी का अस्तित्व था। क्योंकि, ऐसा मानने पर स्वप्नोत्थित के स्वाप्निक प्रतिसन्धान से स्वप्न में स्थूल शरीर का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा। स्वाप्निक स्मरण में स्थूल देह का भी प्रतिसन्धान होता ही है। यदि स्वाप्निक प्रतिसन्धान के विषय स्थूल शरीर का अस्तित्व स्वप्न में अमान्य है, तो उसी तरह 'अहं' का प्रतिसन्धान होने पर भी उसका अस्तित्व सुषुप्ति में मान्य नहीं है; किन्तु सुप्ति में सुख, अज्ञान तथा चैतन्य का ही अनुभव मानना चाहिये। यदि अहङ्कार होता तो उसका भी प्रकाश अवश्य होता क्योंकि अहङ्कार, सुखादि अव्यभिचरित प्रकाशवाले होते हैं। वे अप्रकाशित होकर कभी भी नहीं रहते। प्रतीयमान ज्ञानाभाव के आधाररूप से अथवा अज्ञानाधार-रूप से सुप्ति में अहङ्कार की कल्पना नहीं की जा सकती। वस्तुतः अनुभूत एवं असन्निकृष्ट का ही स्मरण होता है परन्तु परामर्श काल में अहमर्थ वर्तमान एवं सन्निकृष्ट ही है। 'मामन्यञ्चनाज्ञासिषम्' इत्यादि रूप से अहङ्कार का अज्ञान परामृष्ट होता ही है। 'मैं नहीं था' इस प्रकार का परामर्श न होने का कारण है प्रत्यगात्मा की सत्ता। अहङ्कार या तत्सूक्ष्मभावापन्न अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ही प्रत्यगात्मा है। इसी दृष्टि से केवल चैतन्य को अज्ञानाश्रय कहा जाता है।

यह भी कहा जाता है कि "प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार तत्त्व और तन्मात्रा ये पदार्थ शास्त्रैकगम्य हैं, ये प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जाने जाते। परन्तु 'अहं' यह प्रतीति प्रत्यक्षात्मक है। नैयायिक इसे आत्मविषयक मानस प्रत्यक्ष मानते हैं। वेदान्ती आत्मविषयक स्वप्रकाश प्रत्यक्ष मानते हैं अतः इस प्रत्यक्ष में शास्त्रैकगम्य अहङ्कार का भान नहीं हो सकता। जागरण में भी 'अहं' इस प्रतीति में अहङ्कार नहीं भास सकता किन्तु आत्मा ही यहाँ भासता है। सुप्ति में भी स्वयंप्रकाश होने से आत्मा भासता रहता है। जागर दशा में 'अहं' प्रतीति में आत्मा का भान अद्वैती को भी मान्य है। अतः उभयसम्मत उस आत्मा को ही अहमर्थ मानना ठीक है। अहमर्थ कोटि में अचेतनांश का भान प्रमाणशून्य है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि समष्टि रूप से प्रकृति, महत्तत्त्व आदि शास्त्रैकगम्य होने पर भी व्यष्टि रूप से प्रकृति (अविद्या, निद्रादि रूप से)

प्रत्यक्ष है। महत्तत्त्व भी व्यष्टि ज्ञान रूप से प्रत्यक्ष है इसी तरह अहन्तत्त्व भी व्यष्टिरूप से प्रत्यक्ष हो ही सकता है। अन्तःकरण एवं अन्तःकरणकार्य ज्ञानेच्छादि प्रत्यक्ष हैं तो अन्तःकरण की अवस्था विशेष अहङ्कार का प्रत्यक्ष होना भी सिद्ध ही है।

आत्मा द्रष्टा ही है, वह दृश्य नहीं होता। इसलिये जो अहमर्थ को दृश्य मानते हैं उनका अहमर्थ अवश्य आत्मभिन्न दृश्य ही है। अहमर्थ में दृग्दृश्य का मिश्रण है। दृश्यांश अनात्मा अहं और दृगंश आत्मा है। वह मिश्रण भी चिदचिद्ग्रन्थि रूप ही है।

अहं प्रतीति में आत्मा का भान अद्वैती को मान्य है परन्तु वह भान विशिष्ट आत्मा का होता है शुद्ध का नहीं। अहमर्थ में दृश्यता को स्वीकार करना ही अचेतन दृश्यांश होने में प्रमाण है। अहंवृत्तिव्यङ्ग्य जड़ अहङ्कार है। सविषय वृत्तिव्यञ्जक आत्मा चेतन है। योगी दृग्दर्शन शक्ति की एकात्मा प्रतीति को अस्मिता कहते हैं। वह भी अहं का सूक्ष्म रूप ही है।—

'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता'।

यह भी कहा जाता है कि "मुक्त और ईश्वर भी आत्मा को 'अहं', 'अहं' रूप से व्यवहृत करते मानते हैं। उनके आत्मा में अचेतन का सम्बन्ध नहीं रहता क्योंकि वे मुक्त हैं। अचेतन सम्बन्धशून्य आत्मा में मुक्त एवं ईश्वर 'अहं' शब्द का प्रयोग करते हैं, इससे मालूम पड़ता है कि केवल चित्स्वरूप आत्मा ही अहमर्थ है। अचेतनविशिष्ट आत्मा में 'अहं' शब्द की शक्ति मानने में गौरव भी है"। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि मुक्त और ईश्वर लक्षणा से ही शुद्ध आत्मा में अहं शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः कोई भी व्यवहार अचेतन सम्बन्धशून्य आत्मा में होता ही नहीं। जीवन्मुक्त एवं ईश्वर दोनों ही का आत्मा अचेतनविशिष्ट है ही। देहत्याग पर्यन्त जीवन्मुक्त का अन्तःकरण रहता है, ईश्वर में भी यावत्संसार मायासंसर्ग रहता है। फिर भी शुद्ध आत्मा में लक्षणा से उनके द्वारा अहं शब्द का प्रयोग होता है। मुक्ति दशा में अहमर्थ के अस्तित्व का तात्पर्य 'अहं' पद लक्ष्यार्थ के अस्तित्व से ही है। शुद्ध चेतन आत्मा की कर्तृता, भोक्तृता शास्त्रविरुद्ध है। अतएव अन्तःकरणादि विशिष्ट आत्मा में ही 'अहं' पद की शक्ति मानना उचित है। फलमुख गौरव दूषण नहीं होता। यदि लाघवमात्र के लिये शुद्ध आत्मा को अहमर्थ माना जायगा

तो उसे ही कर्ता, भोक्ता मानना पड़ेगा। फिर कभी भी उसकी मुक्ति की आशा न रहेगी। कहा जाता है कि 'आत्मा को एक मानने से चैत्र को मैत्र आत्मा के प्रति भी 'अहं' ऐसा अनुभव होना चाहिये, क्योंकि आत्मा एक ही है। इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए अद्वैती अन्तःकरणविशिष्ट को अहमर्थ मानते हैं और अन्तःकरणभेद से उसका समाधान करते हैं।' पर यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वस्तुगत्या शुद्ध के एक होने पर भी विशिष्ट भेदमूलक भेद व्यवहार लोक में भी प्रसिद्ध है। मुख्य बात तो यही है कि अहं को आत्मा मानने से आत्मा को कर्तृत्वादि विकार से युक्त मानना पड़ेगा। फिर प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न अद्वैत परमानन्द ब्रह्मपर्यवसायी वेद एवं तदनुयायी सभी शास्त्रों का विरोध होगा।

मैत्र के प्रति 'अहं' प्रतीति का अभाव उपाधिभेद से भी उपपन्न हो जाता है। जैसे प्रतिवादी जागर काल एवं सुप्ति काल के अहमर्थ आत्मा का अभेद मानता हुआ भी अवस्थाभेद से जागर के तुल्य सुप्ति के आत्मा में 'अहं' प्रतीति नहीं मानता।

यह भी कहा जाता है कि "जैसे सुप्ति काल में वैषयिक ज्ञान न होने से 'मैं अब तक कुछ नहीं जानता था,' ऐसा ज्ञानाभाव का अनुसन्धान होता है, वैसे ही सुप्ति में यदि अहमर्थ न होता तो 'अब तक मैं नहीं था' इस प्रकार अनुसन्धान होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः स्थूल अहङ्कार के समान ही सूक्ष्म रूप से अविद्यांश में रहनेवाले अहङ्कार को भी अहमर्थ में अनुप्रविष्ट मानना चाहिये"। परन्तु यह ठीक नहीं। इसमें प्रथम कारण तो यह है कि अनुसन्धान-रूप कार्य के अनुसार कारण की कल्पना तो हो सकती है किन्तु संस्काररूप कारण के आधार पर अनुसन्धान की कल्पना नहीं की जा सकती। कारण, कई विषयों के संस्कार रहने पर भी अनुसन्धान नहीं होता। प्रत्युत यह भी कहा जा सकता है कि यदि अहङ्कार सुप्ति में होता तो उसका अनुसन्धान होता। साथ ही उसके ज्ञानेच्छादि गुणों का भी अनुसन्धान होता; किन्तु ऐसा नहीं होता अतः सुप्ति में अहङ्कार का अभाव ही मानना उचित है। दूसरे यह कि ज्ञानाभाव की सिद्धि तो भावरूप अज्ञान के परिचायकरूप से मान्य है। अनुसन्धान से ज्ञानाभाव की सिद्धि नहीं होती। जिस 'नाहमवेदिषम्' प्रतीति को ज्ञानाभाव का अनुसन्धान कहा जाता है वह भावरूप अज्ञान का ही स्मरण है। क्योंकि ज्ञानाभाव के अनुभव से ही उसका स्मरण मानना पड़ेगा। यदि सुप्ति में ज्ञाना-

भाव का अनुभव मानना होगा तो उसके लिये सविषय ज्ञानरूप प्रतियोगी और अभावाधिकरणरूप आत्मादि अनुयोगी का ग्रहण आवश्यक होगा। यदि उक्त ये दो प्रकार के ग्रहण नहीं हैं तो ज्ञानाभाव का ग्रहण ही न होगा। यदि उक्त ये दो ग्रहण हैं तो ज्ञानाभाव कहना सर्वथा व्याहत ही होगा। क्योंकि अभाव का निरूपक ज्ञानरूप प्रतियोगी एवं उसका निरूपक विषय तथा आत्मादि अनुयोगी के ज्ञान रहते ज्ञानाभाव नहीं कहा जा सकता। अतः भावरूप अज्ञान का ही सुप्ति में ग्रहण होता है, उसी से ज्ञानाभाव भी सिद्ध हो जाता है।

वह साभास साधिष्ठान अहङ्कार ही चिदचिद्ग्रन्थि भी है क्योंकि उसमें अधिष्ठान और आभास चैतन्यांश है, अहङ्कार अचिदंश है। अहं का वाच्य वह ग्रन्थि है, लक्ष्यार्थ शुद्ध चित् है। तभी 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य में मुख्य सामानाधिकरण्य के द्वारा जीवात्मा परमात्मा का अभेद भी सिद्ध होता है। अन्यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के समान यहाँ भी बाध सामानाधिकरण्य द्वारा अहं का सर्वथा बाध होने से मुक्ति में जीव को सर्वथा अनन्वयी मानना पड़ेगा जो कि अनिष्ट ही है।

"योऽयंस्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव।
ब्रह्मास्मीतिधियाप्येषा अहं बुद्धिर्निवर्तते॥"

इस नैष्कर्म सिद्धि के वचन से जो कहा गया है कि जो यह स्थाणु है, (जिसे स्थाणु समझ रहे हो) वह पुरुष है, स्थाणु नहीं है। जैसे यहाँ पुंबुद्धि से स्थाणु बुद्धि का निराकरण होता है वैसे ही 'ब्रह्माहं' यहाँ भी ब्रह्म बुद्धि से अहं बुद्धि निवृत्त हो जाती है। उसका भी तात्पर्य यही है कि अहंवाच्य विशिष्ट बुद्धि की ही निवृत्ति होती है। विशेष्यभूत चित् की निवृत्ति वहाँ अभीष्ट नहीं है। केवल अहङ्कार में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, मुमुक्षुत्व आदि कुछ भी नहीं बन सकता अतः अहङ्कारविशिष्ट चैतन्यरूप अहं पद वाच्यार्थ कर्ता भोक्ता मुमुक्षु माना जाता है। उसके विशिष्ट अंश का बाध होने पर भी विशेष्यांश मोक्षान्वयी रह जाता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य में सर्वपदवाच्य अनात्म प्रपञ्च का अधिष्ठानभूत ब्रह्म पदार्थ ज्ञान से सर्वथा बाध ही इष्ट है।

जो कहा जाता है कि "अहङ्कार से विलक्षण चैतन्यरूप आत्मा को ही अहमर्थ मानना चाहिये", यह ठीक नहीं। कारण, जैसे घट को घटार्थ न मानना 'वदतो व्याघात' है वैसे ही अहङ्कार को अहमर्थ न मानना भी 'वदतो व्याघात' है। यदि केवल चैतन्यात्मा को ही अहं शब्दार्थ माना जाय तो अहं कर्ता, अहं

भोक्ता इत्यादि व्यवहारों में आत्मा को ही कर्ता, भोक्ता मानना पड़ेगा; और उस कर्तृत्व भोक्तृत्व की कभी निवृत्ति न होने से मोक्ष भी कभी न बन सकेगा। अतः ग्रन्थि या अहङ्कारविशिष्ट आत्मा को ही 'अहं' पद वाच्य मानना ठीक है। इससे वाच्यविशिष्ट आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व होने पर भी शुद्ध आत्मा कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि रहित होकर मोक्षान्वयी होगा। तभी 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुभव भी 'अहं' पदलक्ष्यार्थ शुद्ध आत्मा को लेकर उपपन्न हो जायगा।

जो कहा जाता है कि "अहं पद का शुद्ध आत्मा अर्थ मानने पर भी अचित् विशेषण उसी तरह उपस्थित हो सकता है; जैसे 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' यहाँ आत्मा के साथ अविद्यांशबलत्व विशेषण की प्रतीति अद्वैती को मान्य है। अथवा 'गौर ब्राह्मण मै जाता हूँ' इस प्रतीति में शरीररूप विशेषण का लाभ होता है"। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे अहं शब्द का शुद्ध आत्मा अर्थ नहीं है वैसे ही 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' यहाँ भी आत्मा शब्द का अर्थ शुद्ध आत्मा नहीं है। ऐसे ही 'गौर ब्राह्मण मैं जाता हूँ' यहाँ भी शरीररहित आत्मा 'गौर, ब्राह्मण, मैं' आदि शब्द का अर्थ नहीं है। अतः उक्त उदाहरण निरर्थक ही है। अद्वैत मत में शुद्ध आत्मा या ब्रह्म लक्ष्यार्थ ही है वाच्य नहीं। फिर तात्पर्य के अनुसार आत्मा, ब्रह्म आदि शब्दों का कहीं विशिष्ट, कहीं लक्ष्य अर्थ ग्राह्य होता है। अतएव ब्रह्म मनोवचनातीत माना जाता है परन्तु अहङ्कारादि अनात्मा ऐसा नहीं है। वह मनोवचन गोचर होने से वाच्य भी हो सकता है। यद्यपि 'अहं' एवं 'आत्मा' दोनों ही शब्द शुद्ध आत्मा के लक्षक होते हैं; फिर भी आत्म शब्द त्वन्ता, इदन्ता, अहन्ता सबके साथ प्रयुक्त होता है, अहं शब्द सब के साथ प्रयुक्त नहीं होता। वह केवल अनात्मा में ही प्रयुक्त होता है और 'आत्मा', 'स्वयं' आदि शब्द केवल अनात्मा में कभी नहीं प्रयुक्त होते।

कहा जाता है कि—

"आत्मनं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्यकामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥"

अर्थात् यदि जीवात्मा अपने रूप को मैं यह हूँ, ऐसा हूँ, ठीक समझ ले तो किस फल की इच्छा से तथा किस कामना से शरीरानुगामी होकर दुःखी हो। इस श्रुति में अस्मि इस क्रिया के कर्तारूप से शुद्ध आत्मा ही लिया गया है अतः शुद्ध आत्मा ही अहं शब्द का अर्थ है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि वहाँ भी शुद्ध आत्मा अहं पद का लाक्षणिक ही अर्थ है, वाच्य नहीं। शुद्ध आत्मा में

लक्षणा से ही अहं शब्द का प्रयोग होता है यह कहा जा चुका है। 'अहं' वाच्य सर्वथा विशिष्ट आत्मा ही होगा।

शुद्ध आत्मा में ही परस्परविरुद्ध कर्तृत्व अकर्तृत्व, भोक्तृत्व अभोक्तृत्व दोनों नहीं बन सकते। अतः विशिष्ट में कर्तृत्वादि और शुद्ध में मुक्तत्वादि मानना अत्यन्त सङ्गत है। शुद्ध में ही कर्तृत्व अकर्तृत्व, बद्धत्व नित्यमुक्तत्व दोनों ही कहना सर्वथा असङ्गत है।

कहा जाता है कि "सोकर उठनेवाला पुरुष समझता है कि मैं सुप्ति में कुछ नहीं जानता था। यदि वहाँ अहङ्कार या चिदचिद्ग्रन्थि नहीं थी तो उसमें अज्ञानाश्रयता भी नहीं बन सकती। अद्वैत सिद्धान्तानुसार चैतन्यमात्र ही सुप्ति में रहता है। अद्वैत मत में चैतन्यमात्र को अहमर्थ मानकर उसी में अज्ञानाश्रयत्व कहा जाता है। अतः चैतन्य आत्मा को ही अहमर्थ मानना ठीक है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सुप्ति में अहङ्कार या अहङ्कार-विशिष्ट चैतन्य का न होना अद्वैती को मान्य है, उसमें अज्ञानाश्रयत्व नहीं होता यह भी मान्य ही है, यह दूषण नहीं है। किन्तु केवल चैतन्य में अज्ञानाश्रयता अद्वैती को मान्य होने पर भी वह चैतन्य अहमर्थ नहीं है। अतएव सुप्ति में अहमर्थ न रहने पर 'मैंने सोते समय कुछ नहीं जाना' इस प्रतीति में अहङ्कार की प्रतीति इसलिये है कि यह प्रतीति जाग्रत् समय में हो रही है और उस समय अहं है ही। सुप्ति में मैं की प्रतीति नहीं होती। यदि हो तो उसके साथ उसके गुण इच्छादि की प्रतीति अनिवार्य होगी, इत्यादि बातें कही जा चुकी हैं।

"सुप्ति में केवल चैतन्य रहता है" यह कथन भी अशुद्ध है। क्योंकि सुप्ति में अविद्याविशिष्ट प्राज्ञ आत्मा रहता है, यही अद्वैतियों की मान्यता है। उस समय अविद्या से अतिरिक्त चैतन्य की अन्य उपाधि भी नहीं रहती क्योंकि किसी ज्ञान के रहने पर निर्विशेषण अज्ञान का अनुभव नहीं होता। यदि मृत्तिकारूप में अवस्थित सूक्ष्म घट के समान अविद्यांशरूप से सुप्ति में अहं की ही सत्ता मान्य है तो इससे अद्वैती का कोई विरोध नहीं। इस तरह जैसे घट उत्पत्तिनाशशून्य नहीं कहा जा सकता वैसे ही अहं भी उत्पत्ति-नाशशून्य अतएव अबाध्य नहीं कहा जा सकता। फिर जब घटादि के तुल्य अहमर्थ आत्मा भी उत्पत्ति नाशवाला ही है तब उसके नित्यत्व, अविक्रियत्व आदि की सब कथा घटादि तुल्य ही ठहरेगी। फिर 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' इत्यादि श्रुति, स्मृति निरर्थक ही होगी। प्रतिवादी घटादि को भी

यथाकथाञ्चित् नित्यता सिद्ध करता ही है। फिर प्रतिवादी को यदि घटादि निर्विशेष ही आत्मा मान्य हो तो वह भौतिकवादी चार्वाक, मार्क्स आदि से निर्विशेष ही सिद्ध होगा। जैसे मृत्तिकारूप से अवस्थित घट में 'घटः' ऐसी प्रतीति नहीं होती, उसी तरह सुप्ति में अविद्यावस्थापन्न अहङ्कार में 'अहं' ऐसी प्रतीति नहीं होती। स्थूल अहङ्कार भी अहमर्थ कोटि में नहीं प्रकाशित होता यह कहना स्वानुभव विरुद्ध है। जागरादि काल में अहंरूप से अहङ्कार की प्रतीति सर्वानुभवसिद्ध है। यह प्रतीति आत्मा की प्रतीति नहीं कही जा सकती क्योंकि वह अखण्ड चिदानन्दरूप है और यहाँ 'अहंशान्तः, अहंघोरः, अहंमूढ़ः, अहंकर्ता, अहंभोक्ता' आदि रूप से 'अहं' सोपद्रव ऐसा ही भासित होता है। अतः अवश्य ही इस अहमर्थ को सोपाधिक आत्मा मानना चाहिये। 'अहं' दृश्य है, अतएव वह अनात्मा अर्थात् शुद्धात्मा से भिन्न ही है। अनुभवसिद्ध होने से ही प्रत्यात्मसिद्ध अहं को शास्त्रैकगम्य नहीं कहा जा सकता।

यह भी कहा जाता है कि "सुषुप्ति में अज्ञान का भान अद्वैतियों को मान्य है, फिर उन्हें यह भी मानना होगा कि 'सोनेवाले पुरुष के प्रति ही उसका भान होता है, जागनेवाले अन्य लोगों के प्रति नहीं।' इस व्यवस्था के निर्वाहार्थ सुषुप्ताश्रय चैतन्य के अवच्छेदक रूप से सूक्ष्म अहङ्कार सुषुप्ति में भी भासता है ऐसा मानना चाहिये। सूक्ष्माहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य के प्रति अज्ञान भासित हो तो उसके भिन्न होने से उपर्युक्त व्यवस्था बन सकेगी। इसी तरह चैत्र को होनेवाला 'मैं अब तक सोता था' यह अनुसन्धान मैत्र विषयक न हो इसलिये भी यह मानना होगा कि 'चैत्रीय सुप्त्याश्रय चैतन्य का अवच्छेदक चैत्रीय अहङ्कार भी भासता है।" परन्तु यह सब कथन निःसार है क्योंकि सुषुप्ति में अहङ्कार का भान न होने पर भी अहङ्कार लयाधिकरण अविद्यांशरूप अवच्छेदक भेद से ही उक्त व्यवस्था उपपन्न हो सकती है। अज्ञानानुभव व्यवस्था के लिये आश्रय भेदमात्र आवश्यक है, अहङ्कार या उसकी प्रतीति अपेक्षित नहीं। व्यष्टि के जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति आदि व्यष्टि को ही भासित होंगे समष्टि को नहीं। अहङ्कार या अविद्यादि उपाधि भेद से आत्मभेद मान्य है ही।

कहा जाता है कि "सुप्ति से उठनेवाले को 'मैं सुख से सोता था' ऐसा अनुसन्धान होता है, 'सुख से चैत्र सोता रहा' ऐसा अनुसन्धान नहीं होता अतः सुप्ति में अहन्त्व भी रहता और प्रकाशता है।" परन्तु यह कथन निराधार है। कारण जाग्रत्काल में अनुसन्धान होने से उसके साथ अहं जुड़ता है। इस

कारण नहीं कि सुप्ति में अहङ्कार है या उसका भान होता है। यदि अहङ्कार होता तो उसका धर्म ज्ञानेच्छादि भी होना चाहिये किन्तु ऐसा होने से सुप्ति ही नहीं रह सकती थी। इसके अतिरिक्त श्रुति ने भी सुप्ति में अहं की प्रतीति का निषेध किया है यह कहा जा चुका। अतएव आत्मनिष्ठ होने पर भी अहन्त्व का सुप्ति में भान नहीं होता किन्तु जाग्रत्काल का ही अहन्त्व अनुसन्धान में भासित होता है। सुप्ति में प्राज्ञ सौषुप्त अज्ञान का अनुभव करता है; वही प्राज्ञ विश्व बनकर जाग्रत् में उसका अनुसन्धान करता है यह भी कहा जा चुका है। यह भी कहना ठीक नहीं है कि सुप्ति आविद्यिक वृत्ति है, वृत्तिविशेष अन्तःकरण का ही सूक्ष्म रूप है। क्योंकि अन्तःकरण परिणाम वृत्ति के समान ही अविद्या का भी परिणाम वृत्ति मान्य है, अतएव ईश्वरीय ज्ञान भी ईश्वरीय माया का परिणाम माना जाता है। इसी तरह आविद्यिक वृत्ति अविद्या का ही परिणाम मान्य है। अविद्या रूप से अवस्थित अहङ्कार में अहन्ता वैसे ही बाधित है जैसे मृत्तिका में घटत्व। अतः जैसे मृत्तिका में घट का भान असम्भव है वैसे ही अविद्या में अहङ्कार के लीन हो जाने पर उसमें अहमर्थ का भान भी असम्भव है।

जागर, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का आश्रय विशेष्य आत्मा एक सा होने पर भी विशेषणभेद से उसमें विश्व, तैजस्, प्राज्ञ, ये तीन भेद होते हैं। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य विश्व है, अर्धनिद्रित अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य तैजस् और निद्रितान्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य अर्थात् विलीनान्तःकरणाविद्यावच्छिन्न चैतन्य प्राज्ञ है। जैसे मृत्तिका में घट का भान नहीं होता वैसे ही अविद्या में अहं का भी भान नहीं होता। यह भी कहा जाता है कि 'यदि अविद्या वृत्ति का विषय सुखरूप आत्ममात्र है तब 'तत्त्वमसि' महावाक्य जन्य अखण्डाकार वृत्ति और सुप्तिकालिक अविद्या वृत्ति में कुछ भी भेद सिद्ध नहीं होगा, फिर तो उसी से प्रपञ्चनिवृत्ति और मुक्तिसिद्धि होनी चाहिये। यदि अहन्त्वादि आरोपित धर्मों को लेकर आत्मा अविद्या वृत्ति का विषय है तो सुप्ति में भी अहङ्कार का भान मानना ही पड़ेगा।' परन्तु यह भी केवल मनोमोदक मात्र है क्योंकि अविद्या वृत्ति और अन्तःकरण वृत्ति होना ही दोनों का भेद है। ब्रह्मविषया अन्तःकरण वृत्ति अविद्या का निवर्तक है, किन्तु अविद्या वृत्ति अविद्या का निवर्तक नहीं। अतएव शुद्ध ब्रह्म विषयक होने पर भी अज्ञान अज्ञान का निवर्तक नहीं होता। आविद्यिक वृत्ति अहङ्कार विषयक न होने पर भी विविध संस्कारोपेत अहङ्कार के कारणभूत अविद्या से समावृत चैतन्य को ही विषय करती है। अतएव अहङ्कार की प्रतीति नहीं होती,

किन्तु सुप्ति में अविद्या की प्रतीति होती है। अतः चिद्रूप आत्मा यद्यपि अहमर्थ है परन्तु वह अहं का लक्ष्यार्थ है, वाच्यार्थ नहीं। अहं पद वाच्य अहङ्कार विशिष्ट ही है। वह अहङ्कार जाग्रत् में ही होता है। अन्तःकरण के अवस्था-भेद से ही उसमें विश्व, तैजस् आदि भेद प्रसिद्ध हैं। जाग्रत् में स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये तीन उपाधियाँ रहती हैं; स्वप्न में सूक्ष्म और कारण ये दो उपाधियाँ रहती हैं और सुप्ति में केवल अविद्यारूप उपाधि रहती है। समाधि में स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों ही उपाधियों का बाध हो जाता है। इसके अतिरिक्त भले अद्वैती स्थूल, सूक्ष्म, कारण रूप से अहङ्कार को ही आत्मा की उपाधि मान लें, तो भी इससे प्रतिवादी का कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। कारण अद्वैती सोपाधिक आत्मा को अहमर्थ मानता है और प्रतिवादी शुद्ध आत्मा को। अहमर्थ विकारी उत्पत्ति नाशशील है। यदि वही आत्मा है तो वह भी उत्पत्ति विनाशशील होगा। फिर उसकी निर्विकारता बतलानेवाली श्रुतियों, स्मृतियों का विरोध ध्रुव होगा।

इसी तरह प्रतिवादी कहता है कि "यदि चिदचिद्ग्रन्थि को अहमर्थ माना जायगा तो यह प्रश्न होगा कि अहं शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त क्या है? यदि अहङ्कारत्व या चेतनत्व, तो यह अनुभवानुसारी नहीं है"। सभी वक्ता अहन्त्व को ही प्रवृत्ति निमित्त मानकर अहं शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि सामान्य जनों को यह विदित ही नहीं होता, केवल विवेचकों को ही विदित होता है। सामान्य लोगों की दृष्टि में व्यञ्जक चैतन्यविशिष्ट अहङ्कार अथवा व्यंग्य अहंकारविशिष्ट व्यञ्जक चैतन्य ही अहमर्थ है अतः उसमें रहने-वाले अहन्त्व धर्म को ही प्रवृत्ति निमित्त मानकर अहं शब्द का प्रयोग करते हैं। उभयत्व को भी प्रवृत्ति निमित्त मानने में कोई हर्ज नहीं।

जो कहा जाता है कि "भेदग्रह बिना उभयत्वग्रह नहीं हो सकता और यदि भेदग्रह है तो अध्यास नहीं हो सकेगा"? परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि सामान्य भेद मालूम होने पर भी अध्यासविरोधी भेदग्रह नहीं होता। जैसे सामान्य रूप से आत्मा एवं बुद्धि सत्त्व का भेद मालूम होने पर भी विवेकाग्रह निवर्तक सत्त्वपुरुषान्यताख्याति उससे भिन्न होती है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये।

इसी तरह कहा जाता है कि "यदि अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य या चैतन्य-विशिष्ट अहङ्कार को अहमर्थ माना जायगा तो विशेषणविशेष्य निर्वाहक सम्बन्ध

बतलाना होगा। द्विष्ठ सम्बन्ध माना जायगा तो भी भेदग्रह अनिवार्य होगा और फिर अध्यास में बाधा पड़ेगी"। परन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त युक्ति से सामान्य भेदग्रह होने पर भी अभेदाध्यास निवर्तक भेदग्रह न होने से अभेदाध्यास उपपन्न हो सकेगा। आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध को लेकर भी उक्त विशेषणविशेष्य भाव उपपन्न हो सकता है।

कहा जाता है कि "अभेद सम्बन्ध से विशेषविशेष्य भाव मानने पर यह भी मानना होगा कि अहङ्कार में विद्यमान धर्म को लेकर चैतन्य भासता है एवं चैतन्य में विद्यमान धर्म को लेकर अहंकार भासता है, क्योंकि परस्पराध्यास होने से एक में विद्यमान धर्म को लेकर दूसरे का भान होना अनिवार्य होगा; पर अद्वैत मतानुसार चैतन्य निर्धर्मक ही है फिर चैतन्यके किस धर्म को लेकर अहङ्कार का भान होगा ?" परन्तु यह भी ठीक नहीं, कारण परमार्थतः चैतन्य के निर्धर्मक होने पर भी उसमें आरोपित ज्ञान, आनन्त्य, सत्यत्व आदि धर्म मान्य होते हैं अतएव चैतन्यविशिष्ट रूप से अहङ्कार का भान होता ही है।

प्रतिवादी कहता है कि "यदि अहङ्कार का भान चैतन्यविशिष्ट रूप में होगा तो भी दोनों का भेदग्रह हो ही जायगा फिर अभेदाध्यास कैसे बनेगा ?" परन्तु यह भी निःसार है। क्योंकि जैसे भ्रमस्थलीय 'अयं सर्पः' इस प्रतीति में इदन्ताविशिष्ट सर्प की प्रतीति होने पर भी अध्यास में बाधा नहीं पड़ती, वैसे ही अहंकारविशिष्ट चैतन्य की प्रतीति होने पर भी अध्यास में बाधा नहीं पड़ेगी। जैसे उदाहरण में रज्जुत्वविशिष्ट इदमंश एवं सर्प के भेदभान से ही भ्रम मिटता है, वैसे ही भास्यसंसर्गशून्य असङ्ग अनन्त आनन्दस्वरूप चैतन्य के भान से भ्रम में बाधा पड़ती है।

कहा जाता है कि "यदि अहं के अहन्त्व धर्म को लेकर चैतन्य का भान माना जायगा तो अहन्त्व को अहङ्कार का अवास्तविक धर्म मानना पड़ेगा। यदि अहं में अहन्त्व मान्य होगा तो वह युष्मदर्थ न बन सकेगा और अद्वैती अहं को युष्मदर्थ ही मानते हैं"। परन्तु यह सब कथन निःसार है। यदि अहं स्वयं ही वास्तविक नहीं है तो उसमें अहन्त्व वास्तविक क्यों होगा ? साथ ही अहं में अहन्त्व भी रह सकता है, युष्मदर्थता भी उसमें हो ही सकती है। जहाँ जिस चैतन्यविशिष्ट अहङ्कार या अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य को अद्वैती अहमर्थ कहते हैं वही युष्मद अस्मद् दोनों का ही अर्थ है। वक्ता में अस्मद् शब्द एवं सम्बोध्य में युष्मद् शब्द का प्रयोग होता है। जैसे प्रतिवादी

के मत में वही जीव चैतन्य ही दोनों का अर्थ होता है वैसे ही अद्वैती के मत में अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य ही दोनों शब्दों का अर्थ होता है। हाँ, कहीं लक्षणा से युष्मद् शब्द का केवल अचेतन अहङ्कारादि अर्थ है और अस्मद् शब्द का शुद्ध चेतन भी अर्थ होता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने 'युष्मदस्मत्प्रत्यय गोचरयोः' इस भाष्य में दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। उसी अभिप्राय से दोनों का तमः प्रकाशवत् विरुद्ध स्वभाव है। जैसे वही जीव चैतन्य अपनी दृष्टि से अस्मद् शब्द व्यपदेश्य होता हुआ भी अन्य दृष्टि से युष्मद् शब्द व्यपदेश्य होता है, वैसे ही सोपाधिक आत्मा या अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य ही विभिन्न दृष्टि-कोण से विभिन्न शब्दवाच्य हो जाता है। सोपाधिक आत्मा या चैतन्य-विशिष्ट अहङ्कारादि दृश्य एवं पराक् तथा परार्थ होने से भी युष्मद् शब्द वाच्य होते हैं।

कहा जाता है कि "अद्वैत मत में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अहङ्कार में ही माने जाते हैं। निर्विशेष चैतन्य में अहङ्कार के द्वारा अतिशयाधान भी नहीं होता; अतः अहङ्कार में होनेवाले सुख आदि के लिए ही अन्य सब कुछ है। अहङ्कार अन्य के लिए नहीं होता अतः अहंकार में परार्थत्व नहीं बनता, अतएव वह युष्मदर्थ नहीं हो सकता। हाँ यदि अहं में वास्तविक अहन्त्व न हो तभी वह युष्मदर्थ हो सकता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अहङ्कार जिस आत्मा की उपाधि है उसके सहारे ही अहङ्कार में कर्तृत्व, भोक्तृत्व है। उसके द्वारा ही अहं में आत्मत्व की प्रतीति होती है। वास्तविक आत्मा का ही अध्यारोपित सुख अहंकाराश्रित प्रतीत होता है। अहंकार दृग्दृश्य ग्रंथिरूप होने से सहंत, पराक् एवं परार्थ ही है। वह भी असंहत, प्रत्यक् आत्मा के लिये ही है। अहङ्कार के द्वारा आत्मा का भोग एवं अपवर्ग बनता है। आत्मा में अतिशयाधान न होने पर भी आरोपित बन्धनिवृत्ति और प्रेप्सित परमानन्द की प्राप्ति भी उसी में होती है। हाँ, यह अवश्य है कि यहाँ अपरिहृत की परिजिहीर्षा और अप्राप्त की प्रेप्सा नहीं होती किन्तु परिहृतपरिजिहीर्षा एवं प्राप्त प्रेप्सा ही होती है। विस्मृत कण्ठमणि और वलयारोपित सर्प उसके उदाहरण हैं। अहङ्कार के लिए सब कुछ है यह कहना सर्वानुभव विरुद्ध है। जैसे सुखार्थ सब कुछ होता है सुख अन्यार्थ नहीं होता, वैसे ही आत्मार्थ सब कुछ है आत्मा अन्यार्थ नहीं होता। अतएव सुख और आत्मा दोनों ही एक ही वस्तु हैं। सुख और अहङ्कार एक ही वस्तु है यह प्रतिवादी भी नहीं मान सकता। अहङ्कार में

वास्तविक अहन्त्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है यह कहा जा चुका। जिस श्रेणी का 'अहं' है उसी श्रेणी का उसमें आरोपित अहन्त्व भी है। उसी अहन्त्व को लेकर चैतन्य का भासना बन सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। चैतन्य में अहङ्कार का अहन्त्व ही नहीं किन्तु अहङ्कार का कर्तृत्व आदि भी भासता है।

कहा जाता है कि "अहङ्कार का चैतन्य में तादात्म्याध्यास नहीं हो सकता क्योंकि चेतन मैं करता हूँ, इस प्रतीति के अनुसार अहङ्कार चैतन्य के आश्रयरूप से भासता है। जो अहङ्कार चैतन्य के आश्रयरूप से भासता है उसका चैतन्य में अध्यास कैसे हो सकता है? यहाँ आश्रयाश्रयीभाव को लेकर चैतन्य एवं अहङ्कार में भेदग्रह है, फिर चैतन्य में अहङ्कार का अध्यास कैसे हो सकता है?" परन्तु यह कथन भी निःसार है। कारण, पुरोवर्ती में सर्प का अध्यारोप होने पर भी सर्पाश्रयत्वेन पुरोवर्तिता इदन्ता की प्रतीति 'अयं सर्पः' इस रूप से होती है। इस प्रकार का भेदग्रह अध्यास का बाधक नहीं होता यह कहा जा चुका।

आकाशादि भी सत्स्वरूप ब्रह्म में आरोपित हैं। फिर भी सत्ता के आश्रय-रूप से आकाशादि प्रतीत होते हैं और यह भेदग्रह अध्यारोप का बाधक भी नहीं होता।

मान्त, दान्त, अहं शब्द के भेद से अर्थभेद की कल्पना भी निराधार है। कोई भी पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि का ऐसा वाक्य नहीं जो यह सिद्ध करता हो कि दान्त अहं शब्द का आत्मा अर्थ है और मान्त का अहङ्कार। काशिका की टीका मञ्जरी आदि से भी दो प्रकार के शब्द की ही सिद्धि होती है परन्तु उनमें किसी अहं शब्द का आत्मा अर्थ है यह उससे भी नहीं सिद्ध होता। 'दम्भाहङ्कारसंयुक्ता, आदि पीछे के अनेक प्रमाणों से मन, बुद्धि, चित्त के समान ही अहङ्कार भी आत्मा से भिन्न तत्त्वान्तर सिद्ध है। 'दम्भाहङ्कार-संयुक्ता' से भी अहङ्कार तत्त्वान्तर का ही वाचक है। शुद्ध आत्मा का वाचक अहङ्कार है यह किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। वह अहङ्कारव्यञ्जक चैतन्य से युक्त ही उपलब्ध होता है यही उसकी चिदचिद्ग्रन्थिरूपता है।

इसी तरह—

"मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे॥"

इस वचन के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ये चार प्रकार के अन्तःकरण हैं। संशय, निश्चय, गर्व और

स्मरण इनके विषय हैं। तो, गर्वरूप वृत्ति को लेकर ही अन्तःकरण में अहङ्कार शब्द का प्रयोग होता है, अन्य वृत्तियों को लेकर अन्तःकरण में अहङ्कार शब्द का प्रयोग नहीं होता। यदि उपर्युक्त शब्दों की शक्ति एकरूप से मान ली जाय तो चारों वृत्तियों के समय में अस्मच्छब्द का प्रयोग होना चाहिये। क्योंकि चिदचिद्ग्रन्थि शरीररूप अन्तःकरण में विद्यमान अन्तःकरणत्व चारों में अनुगत है। तब गर्वव्यतिरिक्त वृत्तियों में भी चिद-चिद्ग्रन्थि विशेष मानकर अहङ्कार शब्द का प्रयोग क्यों नहीं होता? अतः चिदचिद्ग्रन्थि अहङ्कार का अर्थ नहीं है।" यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे चित्त का विषय स्मरण है, बुद्धि का कार्य अध्यवसाय है, फिर भी स्मरणादि न रहने पर भी चित्तादि रहते हैं, उनका विलोप नहीं हो जाता; उसी तरह गर्व के न रहने पर भी अहङ्कार का लोप नहीं होता। यह भी भेदव्यवहार भेदविवक्षा से ही है। कहीं केवल मन शब्द से और कहीं केवल अहङ्कार शब्द से ही अन्तःकरण-मात्र का ग्रहण हो जाता है। अतएव श्रुति में काम, सङ्कल्प, श्रद्धा, ही, धी, भी, सबको मन ही कहा गया है। उस दृष्टि से अन्तःकरणमात्र में अहङ्कार शब्द का प्रयोग होता ही है। जहाँ भेदविवक्षा है वहाँ भिन्न भिन्न शब्दों का भी प्रयोग होता है।

कहा जाता है कि "जैसे मैं स्थूल हूँ, ऐसा कहने पर देहादि अनात्मा में होने-वाला आत्माभिमान प्रतीत होता है, परन्तु स्थूल अहङ्कार है ऐसा कहने से उप-र्युक्त अभिमान प्रतीत नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि अहङ्कार शब्द का अर्थ दूसरा तथा अस्मद् शब्द से निष्पन्न अहं का अर्थ दूसरा है"। यह सब कथन भी निःसार है। पहले तो उपर्युक्त दोष अहमर्थ को आत्मा माननेवलों के ही मत में आता है। अद्वैतवादी जैसे 'मैं स्थूल हूँ', इस प्रतीति में आत्मा अनात्मा का मिश्रण मानते हैं, वैसे ही 'मैं कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता हूँ' इन प्रतीतियों में भी अन्योन्याध्यासरूप मिश्रण मानते हैं यह कहा जा चुका है।

"अहङ्कार स्थूल है', ऐसी प्रतीति उसी के मत से होनी चाहिये जो अहङ्कार को आत्मा मानता है। प्रतिवादी अहङ्कार को ही आत्मा कहने का हठ करता है, अद्वैती अहङ्कार को अनात्मा ही कहता है। दो प्रकार का अहङ्कार सिद्धकर एक को आत्मा एक को अनात्मा कहने से भी उक्त दोषों का वारण नहीं होता। अहं शब्द सदा एकरूप से रहता है। अस्मद् शब्द से बननेवाले 'अहं, मां, मम' आदि अनेक रूप होते हैं यह सही है; इसमें विवाद भी नहीं है। परन्तु मान्त अव्यय गर्व का और अस्मद् शब्द आत्मा का वाचक है इस विषय में

कोई प्रमाण नहीं है। अहं शब्द गर्व का वाचक नहीं है किन्तु गर्व उसका विषय है, जैसे चित्त स्मरणवाचक नहीं है किन्तु स्मरण उसका कार्य है; यह कहा जा चुका। इसी लिये 'महाभूतान्यहङ्कारो', 'निर्ममोनिरहङ्कार' इत्यादि स्थलों का अहङ्कार शब्द अनात्मा का ही बोधक है।

कहा जाता है कि "जैसे अहङ्कार एवं अहमर्थ का एक ही 'अहं' शब्द वाचक है, उसी तरह बुद्धि शब्द के ही महत्तत्त्व और संविद् दोनों ही वाच्य हैं। फिर जैसे अहमर्थ 'महाभूतान्यहङ्कारः' के अनुसार क्षेत्रान्तर्गत है वैसे ही 'बुद्धिरव्यक्तमेव च' के अनुसार संवित् भी क्षेत्रान्तर्गत सिद्ध होगी। यदि बुद्धि शब्द का मुख्यार्थ संवित् और लाक्षणिक अर्थ महत्तत्त्व है ऐसा मानकर बुद्धि शब्द का लाक्षणिक अर्थ महत्तत्त्व ही क्षेत्रान्तर्गत है संवित् नहीं; ऐसा कहा जाय तो यही सब बात 'अहं' के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। 'अहं' मान्त शब्द का वाच्य अहङ्कार ही क्षेत्रान्तर्गत है, अस्मद् शब्द निष्पन्न 'अहं' शब्द का अर्थ आत्मा क्षेत्र नहीं है।" परन्तु यह कल्पना भी अशुद्ध है। बुद्धि शब्द का सर्वत्र महत्तत्त्व ही अर्थ है अतएव वही क्षेत्र है। हाँ संवित् एवं ज्ञान शब्द बुद्धि, वृत्ति एवं नित्यज्ञानरूप ब्रह्म के बोधक हैं। वस्तुतः बुद्धि शब्द का मुख्यार्थ महत्तत्त्व है और वह क्षेत्र ही है, किन्तु कहीं लक्षणा से बुद्धि शब्द का नित्यज्ञान भी अर्थ हो सकता है। इसी तरह अहं शब्द का मुख्यार्थ अनात्मा या क्षेत्र ही है क्वचित् लक्षणा से शुद्ध आत्मा भी अहं शब्द का अर्थ हो सकता है।

कहा जाता है कि "एक अहङ्कार अहं बुद्धि का वाचक है, वह च्वि प्रत्यय शून्य कृञ् धातु से बना है। अहंक्रिया अर्थात् 'अहं' ऐसा समझना इस अहङ्कार शब्द का अर्थ है। दूसरा अहङ्कार शब्द च्वि प्रत्ययान्त अहं शब्द से भावार्थक कृत्प्रत्ययान्त कृञ् धातु से बना है। अनहं पदार्थ अर्थात् आत्मा से भिन्न देहादि में जो 'अहं' ऐसा अभिमान होता है वह देहादि अभिमान इस अहङ्कार शब्द का अर्थ है। इसी तरह च्वि प्रत्ययान्त अहं शब्द तथा करणार्थक कृत्प्रत्ययान्त कृञ् धातु को लेकर एक अहङ्कार शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ अहङ्कार तत्त्व है। जिसके प्रभाव से आत्मभिन्न देहादि में अहं ऐसा अभिमान होता है। वह उपर्युक्त अभिमान का साधन होने से अहङ्कार कहा जाता है। यही अहङ्कार शरीर का उपादान कारण होने से उपर्युक्त गीता के श्लोक में क्षेत्रान्तर्गत कहा गया है। अर्थात् भावार्थक प्रत्ययान्त अहङ्कार शब्द गर्ववाची और करण प्रत्ययार्थक अहङ्कार तत्त्ववाची है। 'अनहं अहं क्रियतेऽनेनेत्यहङ्कारः' यह करणार्थक और 'अनहमोऽहमःकारः' यह भाव

प्रत्ययार्थक है। 'अनहं' आत्मभिन्न देहादि अहङ्कारास्पद जिससे बनता है वह अहङ्कारतत्व और अनहं देहादि में अहं व्यवहार करना 'अहङ्कार' है, अतः अहमर्थ आत्मा को अहङ्कार मानकर उसे क्षेत्र कहना ठीक नहीं।" परन्तु यह ठीक नहीं, कारण यहाँ अभूततद्भाव है ही नहीं। अनहं देहादि में अहं बुद्धि अहङ्कार है और अहं आत्मा में 'अहं' बुद्धि अहङ्कार नहीं है यह उपहासास्पद बात है। फिर ऐसे ही यह क्यों न कहा जाय कि अत्वं' (त्वं भिन्न) में त्वं बुद्धि त्वङ्कार है और त्वं में त्वं बुद्धि त्वङ्कार नहीं इसी तरह अनिदं में इदं बुद्धि इदङ्कार है और इदं में इदं बुद्धि इदङ्कार नहीं। यदि इसे इष्ट ही माना जाय तो ठीक नहीं क्योंकि इसमें सभी शास्त्रों का विरोध ही होगा। किसी भी शास्त्र को यह व्यवस्था मान्य भी नहीं है। इसी तरह प्रश्न होगा कि बुद्धि में अहं बुद्धि अहङ्कार है या नहीं? पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि अनहं में अहं बुद्धि अहङ्कार है यह नियमभङ्ग हुआ, कारण बुद्धि भी अहंरूप से मान्य ही है, तथा च बुद्धिरूप 'अहं' में अहं बुद्धि भी अहङ्कार हुआ। यदि कहा जाय कि बुद्धि अहमर्थ है ही नहीं तो यह कहना भी ठीक नहीं; कारण, 'अथांतोहङ्कारादेशः' के सम्बन्ध में प्रतिवादी कहता है कि यहाँ अहं शब्द साक्षात् अहमर्थ बुद्धि का वाची है। यदि कहा जाय कि 'बुद्धि' में अहं बुद्धि अहङ्कार नहीं है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बुद्धि भी अहंरूप आत्मा से भिन्न अनहं ही है फिर उसमें अहं बुद्धि अहङ्कार क्यों नहीं? यदि कहा जाय कि बुद्धि अहमर्थ ही है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि प्रतिवादी आत्मा को ही अहमर्थ मानता है बुद्धि को नहीं। सर्वथापि अहं शब्द का अर्थ शुद्ध आत्मा नहीं है। अहमर्थ आत्मा है एवं कोई अहङ्कार क्षेत्र से भिन्न क्षेत्रज्ञ ही है यह सब बात प्रमाणविधुर है। ज्ञान एवं संवित् क्षेत्र भिन्न आत्मा है इसमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ ही प्रमाण हैं। 'गर्व' अहङ्कार नहीं किन्तु अहङ्कार का विषय है। 'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः' यह निघण्टु वचन भी उपचार से ही अहङ्कार को गर्व कहता है।

कहा जाता है कि "गर्वरूप अहङ्कार ही त्याज्य होता है। अहङ्कार तत्त्व का त्याग असम्भव ही है। मोक्ष में वह भगवत्प्रसाद से छूटता है तथा महाप्रलय में भी अहङ्कार जीव का सम्बन्ध छोड़ देता है, जीवित समय में उसका छोड़ना सम्भव नहीं। परन्तु अहमर्थ तो कभी छोड़ा नहीं जाता, क्योंकि वह और साधक का आत्मा एक ही है। अहङ्कार तत्त्व और अहमर्थ दुस्त्यज पदार्थ है अतः उसके त्याग का उपदेश गीता नहीं दे सकती। फलतः गर्वरूप अहङ्कार ही त्याज्य होता है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि उक्त संकुचित अर्थ करने में

कोई प्रमाण नहीं है। जैसे सशरीर के प्रिय अप्रिय की अपहति नहीं होती परन्तु शरीर को आत्मभिन्न समझ लेने और उसका अध्यास छोड़ देने से ज्ञानी अशरीर हो जाता है। तभी 'सशरीरस्य न प्रियाप्रिययोरपहतिः', 'अशरीरं वा वसन्तं नैनं प्रियाप्रियौ स्पृशतः' ये श्रुतियाँ आत्मा को अशरीर कहती हैं। इसी तरह अहं से भिन्न आत्मा को समझने से ज्ञानी प्राणी अहङ्कार से रहित अतएव निरहङ्कार हो जाता है। आत्मा के साथ अन्योन्याध्यास होने से ही आत्मा को भी अहमर्थ समझा जाता है। अन्योन्याध्यास मिटने पर आत्मा 'अहं' शब्द का लक्ष्य ही होता है वाच्य नहीं। अतः ज्ञान होने पर आत्मा सर्वथा निरहङ्कार हो सकता है। अहन्ता, त्वन्ता, इदन्ता सभी आत्मा में अध्यस्त ही हैं। अधिष्ठान साक्षात्कार से सबकी निवृत्ति होनी ही चाहिये।

इसी तरह 'अथातोऽहङ्कारादेशः' इस भूम विद्या के द्वारा अहङ्कारादेश से भी अहङ्कार की आत्मता सिद्ध नहीं होती। शाङ्कर भाष्य से भी अहं आत्मा एवं भूमा का अभेद सिद्ध नहीं होता। 'स एवाधस्तात्, स उपरिष्टात्, स पश्चात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स उत्तरतः, स एवेदं सर्वभू', इससे यह कहा गया है कि भूमा ही नीचे है, वही ऊपर है, वही दायें, वही बायें, वही सब कुछ है। इस निर्देश से भूमा की परोक्षता प्रतीत होती है; अतः उसे ही प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न एवं स्वप्रकाश अत्यन्त अपरोक्ष सिद्ध करने की दृष्टि से अहङ्कारादेश है। अर्थात् मैं ही नीचे, ऊपर, दायें, बायें, तथा सब कुछ हूँ। इससे 'वह भूमा और प्रत्यक् चैतन्य एक ही है' यह सिद्ध किया गया है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि स्थलों में अहं शब्द से जैसे अहं पद लक्ष्यार्थ शोधित त्वं पदार्थ लिया जाता है, वैसे ही यहाँ अहं शब्द का लक्ष्यार्थ ही ग्राह्य है। वही भूमा से अभिन्न होने से सर्वात्मा हो सकता है। परन्तु अहङ्कारादेश से किसी को यह भ्रम हो सकता है कि अहङ्कार या अहमर्थ को ही सर्वात्मा (सब कुछ) कहा गया है। इसी भ्रान्ति को दूर करने के लिए आत्मादेश है। 'आत्मैवाधस्तात् आत्मैवोपरिष्टात्' आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही सब कुछ है; अर्थात् 'अहमेवाधस्तात्' इत्यादि से अहङ्कार अहमर्थ या सोपाधिक आत्मा को सर्वात्मा नहीं कहा गया, किन्तु अहं पद लक्ष्यार्थ शुद्ध आत्मा ही यहाँ विवक्षित है। जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि' में अहं पद लक्ष्यार्थ आत्मा और ब्रह्म का अभेद है, अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य का ब्रह्म के साथ ऐक्य नहीं है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये।

'स एवाधस्तात्', 'आत्मैवाधस्तात्' 'अहमेवाधस्तात्' आदि स्थलों में एवकार का प्रयोग अवश्य ही इतर व्यवच्छेदार्थक है अतः तीनों की एकता ही

विवक्षित है। क्या प्रतिवादी वास्तव में ऐसा मानता है? क्या भूमा और अहमर्थ उसके मत में अत्यन्त अभिन्न हैं? साथ ही क्या अणुपरिमाण आत्मा ही ऊपर, नीचे, दक्षिण, उत्तर, और वही सब कुछ हो सकता है? और क्या जिस तरह भूमा शब्द से व्यापक ब्रह्म की सर्वात्मकता कही गयी है उसी तरह अहमर्थ की सर्वात्मकता कही जा सकती है? कहना होगा कि नहीं, यहाँ प्रकारभेद से भिन्न प्रकार की सर्वात्मकता कही गयी है फिर क्या इतर व्यवच्छेद उपपन्न हो सकता है? कहना होगा कि भूमा सर्वकारण होने से 'तदनन्यन्याय' से सर्वात्मक है, किन्तु अहमर्थ वैसा नहीं है। यहाँ 'अहं' पद का अर्थ जीव है, फिर तदन्तर्गत तदन्तर्यामी भी उसका अर्थ है। इस तरह 'अहं' पद का अर्थ जीवान्तर्यामी मानकर उसकी सर्वात्मकता कही गयी है। परन्तु यहाँ व्यवच्छेदक सार्थक ही नहीं है, क्योंकि इस तरह घट ही ऊपर, नीचे, दायें, बायें और घट ही सब कुछ है कहा जा सकता है; घट शब्द का भी घटान्तर्यामी अर्थ लिया जा सकता है। इन सब क्लिष्ट कल्पनाओं की अपेक्षा यह सीधासादा अर्थ कहीं अच्छा है कि अहं शब्द का वाच्यार्थ अहङ्कार या सोपाधिक आत्मा सर्वात्मा हो नहीं सकता, उसका भूमा के साथ अभेद भी नहीं हो सकता, अतः अहं पद का लक्ष्यार्थ ही सर्वात्मा हो सकता है। वही भूमा से भी अभिन्न हो सकता है। वही यहाँ ग्राह्य है।

'अहमेवाधस्तात्' के अर्थ में होनेवाली शङ्का दूर करने के लिए ही 'आत्मैवाधस्तात्' कहा गया है। प्रतिवादी के मत में 'अहं' से अनात्मा में आत्माभिमानरूप अहङ्कार के ग्रहण होने की शङ्का होती थी। 'आत्मैवाधस्तात्' से कहा गया कि वह यहाँ ग्राह्य नहीं है किन्तु शुद्ध आत्मा ही 'अहं' शब्द से ग्राह्य है। अद्वैती के मत में यह शङ्का थी कि 'अहं' शब्द का अर्थ अहङ्कार या सोपाधिक आत्मा यहाँ ग्राह्य है। उसका निराकरणकर यह कहा गया कि यहाँ शुद्ध आत्मा 'अहं' शब्द का लक्ष्यार्थ ही ग्राह्य है। प्रतिवादी के मत में जैसे भूमा के तुल्य आत्मा की सर्वात्मता नहीं हो सकती वैसे ही अहङ्कार की भी सर्वात्मता नहीं हो सकती। जीवान्तर्यामी को लेकर जैसे आत्मा की सर्वात्मकता हो सकती है वैसे अहङ्कारान्तर्यामी को लेकर अहङ्कार की सर्वात्मकता हो सकती है। सत् ही सब कुछ है, चित् ही सब कुछ है के समान भूमा ही सब कुछ है, मैं ही सब कुछ हूँ, यह प्रतिवादी के मत में कथमपि मान्य नहीं है, क्योंकि इस तरह सत् चित् के तुल्य ही अहं और भूमा एक ही अर्थ के वाचक शब्द सिद्ध होंगे, किन्तु यह शास्त्रविरुद्ध है। अतएव यह कहना भी

ठीक नहीं है कि अहमर्थ आत्मा और अहङ्कार एक ही पदार्थ प्रसिद्ध हैं। आत्मादेश एवं अहंकारादेश के पहले भी यह लोगों को विदित ही है। अतः इन आदेशों का तात्पर्य अहंकार एवं आत्मा के अभेद बतलाने में नहीं हो सकता। प्रत्यक्षसिद्ध अभेद प्रतिपादन से अनुवादकत्वेन शास्त्र का अप्रामाण्य-प्रसङ्ग भी होगा। ऐसी स्थिति में आदेशभेदों का यही अर्थ है कि अहंकार और आत्मा भिन्न भिन्न पदार्थ हैं; अतः यहाँ अहं का वाच्यार्थ न लेकर लक्ष्यार्थ आत्मा का ही अभेद विवक्षित है। अहंकार का भूमा से अभेद सम्भव नहीं है अतः वह यहाँ नहीं ग्राह्य है। हाँ, भूमा और आत्मा का अभेद प्रतिपादन इष्ट हो सकता है क्योंकि वह लोकसिद्ध नहीं है। लोक में भूमा 'ब्रह्म'रूप से आत्मा 'जीव'रूप से प्रसिद्ध है। सर्वज्ञ अल्पज्ञ रूप से उनका भेद प्रसिद्ध है। श्रुति अज्ञातज्ञापिका होने से प्रमाण है। इस तरह भूमा और आत्मा में अभेद तथा आत्मा और अहमर्थ में भेद सिद्ध करना भी इन आदेशों का अर्थ हो ही सकता है। 'स्थूलारुन्धती न्याय' से भी पहले अहमर्थ को भूमा कहा गया है क्योंकि अहमर्थ ही लोक में आत्मारूप से प्रसिद्ध है। पश्चात् आत्मादेश के द्वारा वास्तविक अहम्पदलक्ष्यार्थ शुद्ध आत्मा का ही भूमा से अभेद सिद्ध करना इष्ट है।

यह व्यवस्था भी शांकर भाष्य के विरुद्ध नहीं है क्योंकि यह कहा जा चुका कि 'अहं ब्रह्मास्मि के समान 'अहं' का लक्ष्यार्थ लेकर ही शांकर भाष्य में 'अहं' लक्ष्यार्थ के साथ भूमा का अभेद कहा गया है, वाच्यार्थ का नहीं। आत्मपद व्यपदेश्य शुद्ध आत्मा से अहं के वाच्यार्थ अहंकार या अहंकार-विशिष्ट चैतन्य का भेद शांकर भाष्य को भी इष्ट ही है। शास्त्रप्रसिद्धि, विद्वत्प्रसिद्धि यदि एक ही है तो 'शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत्' के अनुसार यहाँ भी अहं शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ में न समझकर लक्ष्यार्थ में ही समझना चाहिये। इसी की सिद्धि के लिए आत्मादेश सार्थक है। इस तरह लक्ष्यार्थ को लेकर एवकारघटित सार्वात्म्योपदेश भी ठीक है। 'अहं' पद वाच्य की आत्मभिन्नता भी इससे सिद्ध हो जाती है। 'स्थूलारुन्धती न्याय' से भी यही सिद्ध होता है। उसके द्वारा भी पहले अहं पद वाच्य अहंकार आदि का ही सार्वात्म्योपदेशकर भूमा से उसका अभेद कहा जाता है। अन्त में वाच्यार्थ छोड़कर लक्ष्यार्थ आत्मा का ही सार्वात्म्योपदेश विवक्षित है।

पञ्चकोश के प्रसङ्गानुसार 'अन्योऽन्तर आत्मा' आदि स्थलों में ही 'स्थूलारुन्धती न्याय' प्रवृत्त होता है, यह कोई राजाज्ञा नहीं है। जहाँ भी पहले अमुख्य सुगम का उपदेशकर अन्त में मुख्य एवं दुर्गम का उपदेश किया जाता है वहाँ सर्वत्र ही 'स्थूलारुन्धती न्याय' की प्रवृत्ति होती है। श्रुति, शांकर भाष्य, विवरण एवं तत्वसन्दीपन सभी के अनुसार पूर्वोक्त मुक्ति की एकवाक्यता ही सिद्ध होती है। यह कहा ही जा चुका है कि प्रतिवादी के मतानुसार भी भूमा के सार्वात्म्योपदेश के समान ही अहमर्थ का सार्वात्म्योपदेश नहीं है। फिर यहाँ भी 'स्थूलारुन्धती न्याय' से अथवा 'अहं' का लक्ष्यार्थ लेकर सर्वात्मता के उपदेश में क्या हानि है?

प्रतिवादी का कहना है कि "उक्त युक्तियाँ युक्त्याभास ही हैं; क्योंकि ऐसा भी कहा जा सकता है कि अहमर्थभिन्न आत्मा की भूमभिन्नता प्रत्यक्षसिद्ध नहीं है; अतः भूमा एवं आत्मा की भिन्नता ही सिद्ध करने के लिए आत्मादेश और भूमादेश है। तथा अहमर्थ ब्रह्म से भिन्न है यह अर्थ प्रत्यक्षसिद्ध है। भले ही भूमा शास्त्रैकसमधिगम्य हो, तो भी तन्निरूपित भेद अनन्यलभ्य न होने से शास्त्रैकसमधिगम्य नहीं कहा जा सकता। अहमर्थ और ब्रह्म के विषय में जो पृथक् पृथक् उपदेश दिया गया है, उसका अहमर्थ और ब्रह्म का अभेद सिद्ध करने में तात्पर्य है, अन्यथा शास्त्र में अनुवादकत्व दोष होगा।" परन्तु यहाँ प्रतिवादि प्रतिपादित युक्ति ही युक्त्याभास है, उपर्युक्त युक्तियाँ नहीं। क्योंकि अल्पज्ञ सर्वज्ञ आदि रूप से आत्मा और भूमा का भेद प्रत्यक्षसिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त आत्मा और भूमा का भेदोपदेश निष्फल भी है। अज्ञात एवं फलवत्तत्त्व का ही उपदेश देने से शास्त्र का प्रामाण्य होता है।

तद्विपरीत अहमर्थ तथा आत्मा का भेद और भूमा तथा आत्मा का अभेद अज्ञात होने के साथ सार्थक भी है। अहमर्थ में ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थ होते हैं। उससे आत्मा का भेद सिद्ध होने से आत्मा में सर्वोपद्रवराहित्य सिद्ध होता है। इसी तरह आत्मा का भूमा से अभेद सिद्ध होने से भूमा की अपरोक्षता, स्वप्रकाशता एवं आत्मा की परिच्छिन्नता अपूर्णता मिटती है, उसमें पूर्णता आती है।

यह कहा ही जा चुका है कि सत् ही सब कुछ है, चित् ही सब कुछ है आनन्द ही सब कुछ है। इस प्रकार भूमा अहमर्थ एवं आत्मा की सर्वात्मता

प्रतिवादी के मत में सम्भव ही नहीं। भूमा सर्वकारण होने से सब कुछ है परन्तु अहमर्थ सर्वकारण नहीं है, वह व्यापक भी नहीं है; फिर सब कुछ कैसे हो सकेगा ? अतएव अहं पद का जीवात्मा से लेकर जीवान्तर्यामी तक क्लिष्ट वृत्ति से अर्थ करने पर अहं की सर्वात्मता कही जाती है। फिर इस तरह अहं पद का अहंकार और अहंकार का अन्तर्यामी अर्थ मानकर भी अहं की सर्वात्मता कही जाती है। फिर इस तरह अहं पद का अहंकार और अहंकार का अन्तर्यामी अर्थ मानकर भी अहं की सर्वात्मता सिद्ध होती ही है। वस्तुतः प्रतिवादी के अनुसार भूमा भी निरुपचरित रूप से सब कुछ नहीं होता। चेतनाचेतन भूमा का शरीर है। जहाँ व्याप्य व्यापक, शरीर शरीरी दोनों ही अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं वहाँ चेतनाचेतन शरीरों को शरीरी भूमारूप ही नहीं कहा जा सकता। इसी तरह यदि अहं शब्द का अर्थ अहमर्थ न लेकर अहमर्थशरीरक ब्रह्म ही लेना है और उसकी सर्वात्मता कहनी हैं तो सिवाय पुनरुक्ति दोष के और कोई लाभ नहीं। साथ ही इस तरह घटादि सभी शब्दों का तत्तदन्तर्यामी अर्थ लेकर सभी को सर्वात्मा कहा जा सकता है। जैसे 'घट नील है' यह कहने से नील की घट से अपृथक् सिद्धत्व प्रतीति होने पर भी नील घट से भिन्न ही है घटरूप ही नहीं है, वैसे ही चेतनाचेतन अन्तर्यामी से अपृथक् सिद्ध होने पर भी भूमा उससे भिन्न ही है। अतः इससे भूमा ही सब कुछ है यह सिद्ध नहीं होता। साथ ही यदि अहं शब्द का जीवात्मा ही अर्थ है परमात्मा नहीं; तो केवल आत्मादेश के बल से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि अहं शब्द का अन्तर्यामी अर्थ है, क्योंकि आत्मादेश शब्द से यह अर्थ किसी तरह नहीं निकल सकता।

एक ही परमात्मा का 'देवोहं', 'मनुष्योहं' के समान इदन्ता एवं अहन्ता रूप से विशेषतया इदन्ता और अहन्ता का भान होता है। यह भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा हो तो जाग्रत्, स्वप्न के समान सुषुप्ति में भी इदन्ता और अहन्ता की प्रतीति होनी चाहिये। अहन्ता की प्रतीति नहीं होती यह कहा जा चुका। इदन्ता की प्रतीति हो तो 'इदमस्वाप्सीत्' यह सोया था ऐसी प्रतीति होनी चाहिये। देवोऽहं, मनुष्योऽहं इस विशेष्यविशेषण भाव में सामानाधिकरण्य प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि जहाँ गुणगुणि भाव या उपादानोपदेय भाव होता है वहीं विशेष्यविशेषण भाव-मूलक सामानाधिकरण्य प्रतीति होती है। अहमर्थ एवं देवादि शरीर का उक्त दोनों ही सम्बन्ध नहीं है इसलिये बाधा में ही 'योऽयं स्थाणुः पुमानेषः' के

समान सामानाधिकरण्य कहना चाहिये। यदि अपृथक् सिद्धत्व के आधार पर सामानाधिकरण्य हो तो जब तक अहं रहेगा तब तक मनुष्यत्वादि का भी अनुवर्तन मानना पड़ेगा। क्योंकि अपृथक् सिद्धत्वेन सामानाधिकरण्य दो नित्यों अथवा नित्य अनित्य में होता है। जहाँ उपादानोपादेय भाव होता है वहाँ नित्य अनित्य में सामानाधिकरण्य होता है; जैसे 'मृद्घटः', 'तन्तुःपटः' यहाँ सर्वत्र उपादानोपादेय भाव है। उपादानोपादेयभाव के बिना जहाँ द्रव्यों में अपृथक् सिद्धत्वेन सामानाधिकरण्य होता है वहाँ नित्यों में ही होता है। जैसे सूक्ष्मचित् एवं ब्रह्म का अथवा सूक्ष्म अचित् एवं ब्रह्म का। जहाँ शरीरशरीरि भाव-मात्र के कारण सामानाधिकरण्य होगा वहाँ अहं और शरीर का गुणगुणि भाव भी नहीं है; उपादानोपादेय भाव भी नहीं है। अतः दोनों के नित्य होने में ही वैसा सामानाधिकरण्य बन सकेगा। फिर मुक्ति में भी मनुष्यत्वादि की अन्विति दुर्वार हो जायगी। यदि शरीर अनित्य है, मुक्ति में अनन्वित है, तो शरीरशरीरि भावमूलक सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। यदि स्थूल शरीर की अनित्यता दृष्ट होने के कारण उसका अन्वय न हो तो भी (इन्द्रिय मनः प्राणादि समुदाय) सूक्ष्म शरीर की (अनित्यता जिनकी दृष्ट नहीं है) मोक्ष में अनुवृत्ति होगी। सूक्ष्म चित् एवं अचित् में 'चेष्टावदन्त्यावयवित्व' (चेष्टावान् हो और अन्त्यावयवी हो) यह शरीरलक्षण मान्य नहीं है।

अहमर्थ अनात्मा है क्योंकि वह शरीर के तुल्य अहं प्रत्यय का विषय है। शरीर भी अहं प्रत्यय का विषय होता है। उसकी अनात्मता भी प्रतिवादिसम्मत है। अहमर्थ आत्मा से अन्य है, अहं शब्दाभिधेय होने से। क्योंकि अहङ्कार शब्दाभिधेय अहङ्कार तत्त्व को प्रतिवादी भी अनात्मा मानता है। इन दोनों अनुमानों से स्थूल शरीरोपहित आत्मा के तुल्य ही सूक्ष्म शरीरोपहित एवं तदेकदेश अन्तःकरणोपहित चैतन्य का भी अनात्मत्व ही सिद्ध होता है। सुप्ति में उक्त दोनों उपाधियाँ नहीं रहतीं इसी लिये आत्मा में अहं प्रतीति नहीं होती; क्योंकि उस समय अन्तःकरण स्वरूप से नहीं रहता किन्तु अविद्योपहित रूप से आत्मा ही रहता है। स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर में अहं पद प्रयोग इसलिये होता है कि अन्तःकरण रूप से अभिव्यक्त अविद्या से उपहित साक्षि चैतन्य में स्थूल शरीरादि का अध्यास होता है। सुप्ति में अविद्यामात्र उपाधि होने के कारण ही आत्मा साक्षी होता है। वहाँ अन्तःकरण सूक्ष्म, स्थूल शरीरादि स्वरूप से नहीं होते अतः अन्तःकरणोपहित साक्षि चैतन्य का अध्यास न होने से सौषुप्त आत्मा में अहं प्रत्यय विषयता नहीं होती। अहङ्कारोपहित

साक्षि चैतन्य में स्थूल, सूक्ष्म देह का अध्यास होने से ही देहादि में अहं प्रत्यय विषयता होती है। अतः जो कहा जाता है कि देह में अहङ्कार भ्रम होने से उस में अहं प्रत्यय मानना पड़ेगा, यह ठीक नहीं है, किन्तु जैसे इदमवच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त रूप्य का चैतन्यावच्छेदक इदं के साथ तादात्म्य होने से 'इदं रूप्यं' ऐसी प्रतीति होती है उसी तरह अहङ्काररूप में अभिव्यक्त अविद्योपहित साक्षि चैतन्य में देहादि का अध्यास होता है अतः अवच्छेदक 'अहं' के साथ देहादि का तादात्म्य होने से अहं रूप से देहादि का भान होता है। अहङ्कार मात्र देह का अधिष्ठान नहीं हो सकता। देहादि में अहं प्रत्यय आत्माहङ्काराध्यास के कारण ही होता है। यदि अहमर्थ अनध्यस्त आत्मस्वरूप ही होता तो जागरादि के समान ही सुप्ति में भी विशद 'अहं' प्रत्यय होता। 'अहं जानामि' इत्यादि प्रत्यय तो सोपाधिक भ्रमरूप है। पहले संविद् में अन्तःकरण का तादात्म्याध्यास होता है उससे चिदचिद्ग्रन्थिरूप आत्मा के संविदंश में आरोपित अन्तःकरण के धर्म कर्तृत्व, ज्ञातृत्वादि का अध्यास होता है। केवल संविद्रूप आत्मा न तो अधिष्ठान ही हो सकता है और न केवल स्वप्रकाशरूप से 'अहं जानामि' प्रतीति में उसका भान ही हो सकता है। साक्षात् या परम्परा से अविद्योपहित ही अधिष्ठान होता है। उसी में ज्ञातृत्वादि होता है। जिस रूप से अविद्योपहित संविद्रूप अधिष्ठान होता है उसी रूप से अध्यस्यमान भी होता है। अतः अहङ्काररूप से अभिव्यक्त अविद्योपहित संविद् में अध्यस्त शरीरादि अहं रूप से अध्यस्यमान होते हैं।

'महाभूतान्यहङ्कारः' इस गीता वचन से अहंकार क्षेत्र ही है यह कहा गया। 'निर्ममो निरहंकारः' इस वचन से आत्मा अहंकार एवं तद्धर्म अहन्ता, ममता से शून्य है यह भी कहा गया। थोड़ी देर के लिए 'मान्त' 'दान्त' रूप से अहं का भेद मान भी लिया जाय और अस्मद् शब्द निष्पन्न अहं को अहमर्थवाचक मान लिया जाय तथा अहंकार को उपाधिपरक मान लिया जाय तो भी अहंकारोपहित अहमर्थ मुख्य आत्मा नहीं है। इस दृष्टि से भी 'अहं ब्रह्मास्मि' के तुल्य लक्ष्यभूत शुद्धात्मरूप से भूमा का उपदेश करने के लिये अहंकारादेश है। अहंकार को पृथक्कर शोधित त्वं पदार्थ स्वरूप लक्ष्य का ही सर्वाभेदेन उपदेशकर फिर 'अथात आत्मादेशः' से भूमा को शुद्धात्म स्वरूप कहा गया है। 'अथातोऽहंकारादेशः' यहाँ अहंकार शब्द से प्रस्तुतकर 'अहमेवोपरिष्टात्' के द्वारा अहं शब्द से सर्वतादात्म्य का प्रतिपादन है। इस तरह अहंकारघटित ही अहमर्थ की सर्वात्मता सिद्ध है। परन्तु वह भूमा की अहंरूपता

अहंकारोपहित रूप से नहीं किन्तु अनुपहित रूप से ही है। इसी लिये 'अथात आत्मादेशः' इससे अहंकारानुपहित आत्मा का ही भूम रूप से उपसंहार बनता है। किन्तु जहाँ 'मान्त, दान्त' भेद से दोनों अहमर्थों का भेद है वहाँ 'अहमेवाधस्तात्' के द्वारा अहंकार शब्द से प्रस्तुत दान्त अहमर्थ का अहं बुद्धि विषय रूप अहमर्थ रूप से परामर्श कैसे होगा ? यदि अहंकार का अहं बुद्धि अर्थ करके अहं बुद्धि से ब्रह्मोपासना का उपदेश ही अहंकारादेश का अर्थ है तब फिर 'स एवोपरिष्टात् अहमेवोपरिष्टात्' इतने से ही काम चल सकता था उससे पृथक् 'अथात आत्मादेशः' यह उपदेश व्यर्थ ही होगा। निरहंकार शब्द से गर्वराहित्य ही कहा गया है यह कहना भी ठीक नहीं। 'निर्ममो निरहंकारः' यहाँ 'मम' के साहचर्य से तत्सम्बन्धी अहंकाररूप उपाधि का ही राहित्य कहना संगत है।

जब अहंकारादेश का ही अहङ्ग्रहोपासना के लिये उपदेश मान्य है और भूमा अहमर्थ के अन्तरात्मरूप से उपास्य है तब फिर भूमा को साधक का अन्तरात्मा कहने के लिये आत्मादेश प्रवृत्त है यह कहना नितान्त असङ्गत है। और उसमें 'एवं विजानतः', 'आत्मतः', 'प्राणः' इत्यादि प्रमाण उपस्थापित करना और भी लचर है। जब चेतनाचेतन सभी का अन्तर्यामी रूप आत्मा है और उसी से प्राणादि की उत्पत्ति होती है तो फिर उपर्युक्त वाक्य में 'ऐसा जाननेवाले के आत्मा से प्राणादि की उत्पत्ति होती है', इस कथन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। वस्तुतः भूमा साधक के आत्मा का आत्मा है साधक का नहीं। साधक के आत्मा का अन्तर्यामी होने से ही साधक का औपचारिक रूप से आत्मा है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार वस्तुतः साधक का भूमा ही आत्मा होता है। इसी पक्ष में 'एवं जानतः' आदि कहना सार्थक है। क्योंकि ज्ञानवान् साधक का ही आत्मा भूमा होता है। इस तरह ज्ञानवान् के आत्म स्वरूप भूमा से ही प्राणादि की उत्पत्ति होती है। **'आत्मेत्येवोपासीत्' त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते यद्योहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं'**, इत्यादि वाक्यों की सङ्गति भी अद्वैतवाद में ही सम्भव है। जहाँ वास्तविक रूप से नियम्यनियामक भाव है वहाँ अभेदनिर्देश नहीं हो सकता। नियम्य प्रजा का नियामक राजा से अभेद नहीं समझा जाता।

———

मूल

यह भी कहा जाता है—

"भूमानारायणाख्यः स्यात् स एवाहङ्कृतिः स्मृतः।
जीवस्थसत्वनिरुद्धो यः सोहङ्कार इतीरितः॥
अणुरूपोऽपि भगवान् वासुदेवः परो विभुः।
आत्मेत्युक्तः सच व्यापी"..................॥

इस स्मृति में भूमविद्यास्थ इन वचनों का अर्थ स्पष्ट किया है। परब्रह्म के नारायण रूप को भूमा, अनिरुद्ध रूप को अहङ्कार और वासुदेव रूप को आत्मा मानकर तीनों में स्वरूपैक्य होने से तीनों की सर्वव्यापकता सर्वात्मकता का प्रतिपादन है।

नारायण नाम का तत्त्व भूमा है, वही अहङ्कार है, जीव में रहनेवाला अनिरुद्ध ही अहङ्कार है। अणुरूप अत्यन्त सूक्ष्म रूप होते हुए भी जो पर विभु भगवान् वासुदेव हैं वही आत्मा कहे गये हैं। तथा ये व्यापक हैं। वस्तुतः श्रुतिवचनों के अनुसार स्मृति की व्याख्या होनी उचित है। जहाँ श्रुत्यर्थ संदिग्ध हो वहाँ अवश्य स्मृति के अनुसार श्रुत्यर्थ समझने में सुविधा रहती है। प्रतिवादी स्वयं भी स्मृति के अनुसार स्मृति का अर्थ नहीं करता, किन्तु वह भी अहङ्कार का अर्थ अहं बुद्धि करता है। परन्तु स्मृति में जीवान्तर्यामी को अहङ्कार कहा गया है।

वस्तुतः श्रुतियों के अनुसार उक्त स्मृति का यही अर्थ है कि नारायण ही भूमा है और वही अहङ्कृति है अर्थात् अहङ्कारोपलक्षित चैतन्यरूप है। वही सोपाधिक जीव में लक्ष्यार्थरूप होने से जीवस्थ भी है। कहीं न रुकने के कारण वही अनिरुद्ध भी है। इस तरह अहङ्कारोपलक्षित चैतन्य या अहंपदलक्ष्य नारायण से अभिन्न होने पर भी अहङ्कारोपहित का कुछ भेद रहता ही है। यदि दोनों ही पर्यायवाचक शब्द नहीं हैं तो प्रतिवादी को भी कुछ न कुछ भेद मानना ही पड़ेगा।

मोक्ष धर्म के निम्नलिखित वचन से इसका स्पष्टीकरण होता है—

अव्यक्तोद्व्यक्तमुत्पन्नं लोकसृष्ट्यर्थमीश्वरात्।
अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः॥
योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे स पितामहम्।
सोहङ्कार इति प्रोक्तः सर्व तेजोमयो हि सः॥
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
अहङ्कार प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च च॥

—सर्व० द० सं०।

अर्थात् अव्यक्त भावापन्न ईश्वर से लोक सृष्टि के लिये व्यक्त उत्पन्न होता है वही अनिरुद्ध है। वही महान् आत्मा है। वही समष्टि बुद्धि हिरण्यगर्भ सर्व लोकों में अनिरुद्ध अप्रतिहत होने से परात्पर है। वही विराट् रूप पितामह का रचयिता है। इसी लिये सर्वकार्य्यापेक्षया विराट् पर है। वह उससे भी पर है अतः परात्पर है। सत्त्वप्रधान समष्टि बुद्धिरूप होने से वह सर्व तेजोमय भी है। उसी से पञ्चभूत आदि की सृष्टि होती है। यहाँ उसी में अहङ्कार शब्द का प्रयोग हुआ है। इन वाक्यों में सांख्यानुसार महत्तत्त्व में एवं अहन्तत्व में ही महान् एवं अहं शब्द का प्रयोग हुआ है। वेदान्तानुसार ईक्षण एवं विचिकीर्षा में उक्त दोनों शब्द प्रयुक्त हैं; 'तदैक्षत' से कहा गया ईक्षण ही महत्तत्त्व है। 'एकोऽहं बहुस्याम्' के अनुसार बहु भवन की इच्छा ही अहन्तत्व है। इसी लिये श्रुति में ईक्षण के बाद अहं शब्द का प्रयोग हुआ है। आत्म शब्द का प्रयोग शुद्ध आत्मा एवं परमात्मा में भी यत्र तत्र होता ही है। अहमर्थ जीवात्मा हो या अहमर्थ अहङ्कार हो, अथवा अहन्तत्व हो, कोई भी सर्वात्मा नहीं हो सकता। यदि प्रतिपक्षी अहं शब्द का जीवान्तर्यामी अर्थ लेकर अहङ्कार की सर्वात्मकता का उपपादन करता है तब तो अहं पद का लक्ष्यार्थ लेकर उसे परमात्मा से अभिन्न मानकर सर्वात्मता का उपपादन अद्वैत मत में भी हो ही सकता है। स्वप्रकाश साक्षी ही प्रत्यक् होता है। 'प्रतीपं विपरीतमात्मानं अञ्चति जानातीति प्रत्यक्' । अकर्ता अभोक्ता नित्य मुक्त आत्मा को कर्ता आदि माननेवाला अविद्यावान् आत्मा प्रत्यक् है। 'देहादिभ्यः प्रतीपतया विपरीततया अच्यते इति प्रत्यक्', देहादि से वैपरीत्येन असंहत असङ्ग स्वप्रकाश रूप से जो जाना जाता है वही प्रत्यक् है। सर्वथापि अहङ्कार या अविद्यारूप उपाधि से ही

चैतन्य साक्षी बनता है। जाग्रत् स्वप्न में अहङ्काररूप उपाधि से एवं सुषुप्ति में अविद्यारूप उपाधि से साक्षी बनता है। मुक्ति में दोनों ही उपाधि नहीं रहती अतः वहाँ साक्षि की बात भी नहीं होती। इसी लिये वहाँ प्रत्यक्त्व का व्यवहार भी नहीं होता। शुद्ध चैतन्य प्रत्यक्त्व पराक्त्व वर्जित ही है। अहं प्रत्यय विषय में प्रत्यक्ता होने पर उसे अनुपहित शुद्धात्म स्वरूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ता उपहित का ही धर्म है। प्रत्यक्ता ही आत्मस्वरूपता का प्रयोजक नहीं है। इसलिये अहम्प्रत्यय विषय में आत्मत्व न होने पर भी कोई हानि नहीं।

अहमर्थ एवं प्रत्यक्

इसके अतिरिक्त अहं प्रत्यय विषय होना ही यदि प्रत्यक्त्व का प्रयोजक है तब प्रतिवादी का यह मत दूषित हो जाता है कि अहम्प्रत्यय विषय जीव ही होता है। क्योंकि 'बहुस्यां प्रजायेय' इस श्रुति में ईश्वर को ही अहम्प्रत्यय विषय कहा गया है। यदि जीव एवं ईश्वर दोनों ही अहमर्थ हों तो 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि में अपृथकत्व लक्षण सामानाधिकरण्य नहीं बन सकेगा। क्योंकि जब दोनों अहमर्थ हैं तो वही उससे अपृथक् कैसे सिद्ध होगा? अद्वैत मत में मायापरिणात्मक वृत्तिविशेष का आश्रय होने से जगत्कारण ईश्वर है।

प्रतिवादी के मतानुसार शुद्ध प्रत्यागात्म स्वरूप निरूपण करनेवाले वेदान्त भाग और प्रत्यागात्म शरीरक परमात्मस्वरूप निरूपण करनेवाले वेदान्त भाग, इस तरह दो प्रकार के वेदान्त भाग हैं। इसलिये स्वप्रकाशत्व ही प्रत्यक्त्व और तद्भिन्नत्व ही पराक्त्व है, यही अनुगत लक्षण मानना अच्छा है। इस तरह अहम्प्रत्यय विषयत्व प्रत्यक्त्व का अप्रयोजक है। अतः अहम्प्रत्यय के अविषय आत्मा में प्रत्यक्ता न होगी यह कहना व्यर्थ है। अद्वैत मतानुसार अहम्प्रत्यय विषयत्व या साक्षित्व ही प्रत्यक्त्व का प्रयोजक है। अहम्प्रत्यय के अविषय शुद्ध आत्मा में प्रत्यक्त्व न होना इष्ट ही है। अहम्प्रत्यय विषय के अनात्मा होने में प्रत्यक्त्वानुपपत्ति बाधक है यह नहीं कहा जा सकता। प्रत्यगर्थ परागर्थ विवेक भी शुद्ध संविद् व्यतिरिक्त व्यावहारिक विषय को लेकर ही समझना चाहिये। क्योंकि शुद्ध संविद् में यह कोई भेद नहीं है। इदम्प्रत्यय गोचरता पराक्ता है। साक्षित्व ही प्रत्यक्त्व है यह विवेक अद्वैत मत में ही है।

प्रतिवादी के मत में अहम्प्रत्यय विषयता यदि प्रत्यक्त्व का प्रयोजक होगी तो धर्मभूत स्वप्रकाश ज्ञान में भी प्रत्यक्ता न होगी। क्योंकि अहम्प्रत्यय विषय धर्मिस्वरूप आत्मा से वह पृथक् ही है। 'युस्मदस्मत्प्रत्यय गोचरयोः' इस भाष्य में अविद्योपहित संविन्मात्र को जो अस्मत्प्रत्यय गोचर कहा गया है वह भी भ्रान्तिकालीन अहम्प्रत्यय गोचरता को ही लेकर। क्योंकि उस अधिष्ठान का शब्दान्तर से व्यवहार नहीं हो सकता; अथवा अध्यासविरोधी पूर्वपक्षियों

की दृष्टि से अस्मत्प्रत्यय गोचर कहा गया है। क्योंकि उन्हें अहमर्थ में ही आत्मत्व का भ्रम है अन्यथा 'विषय विषयिणोः' भाष्य में उसी में विषयित्व कहना भी संगत न होता; अथवा दोनों शब्द लक्षणा से आत्मा अनात्मा के बोधक हैं। सर्वथापि अहम्प्रत्यय विषय की अनात्मता सिद्ध है। शुद्ध चैतन्य अहम्प्रत्यय का विषय नहीं है। प्रत्यक्त्वान्यथानुपपत्ति से यदि अहमर्थ की आत्मता सिद्ध की जाय तो अनात्मा और धर्मभूत ज्ञान में अनैकान्तिकता होगी क्योंकि अप्रत्यक्भूत परमात्मा में भी अहमर्थत्व के पक्षैकदेश में विद्यमान होने से भागासिद्धि होगी।

प्रतिवादी के मत में चित्, अचित्, ईश्वर तीन पदार्थ हैं। धर्मभूत ज्ञान अचित्पदार्थ नहीं है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश होने से अजड़ है। ईश्वर भी वह नहीं है, क्योंकि प्रतिवादी को उसमें ईश्वरत्व स्वीकृत नहीं है। वह चित् भी नहीं है क्योंकि वह चित् का धर्म होने से आत्मा नहीं है। इसलिये या तो उसे अतत्त्व कहना होगा या चित् में अन्तर्भाव किया जायगा। यदि चित् माना जाय तो उसे प्रत्यक् होना ही चाहिये। परन्तु अहमर्थ न होने पर उसमें प्रत्यक्त्व नहीं बनेगा।

यद्यपि कहीं कहीं जड़ अजड़ भेद से दो पदार्थ माने गये हैं। धर्मिभूत ज्ञान एवं धर्मभूत ज्ञान के भेद से अजड़ दो प्रकार का है। इस पक्ष में भी धर्मिभूत ज्ञान की अपेक्षा धर्मभूत ज्ञान यदि तत्त्वान्तर है, तो जैसे धर्मिभूत ज्ञान को जीवेश्वर भेद से दो प्रकार का माना है वैसे ही धर्मभूत ज्ञान को जीवेश्वर धर्मभूत ज्ञानभेद से दो प्रकार कहना चाहिये। इस तरह प्रकृति, जीव, धर्मभूत ज्ञान, ईश्वर एवं तद्धर्मभूत ज्ञान मिलाकर तत्त्वपञ्चक ठहरते हैं। फिर तत्त्वत्रय की कथा निराधार होती है। किसी धर्मभूत अजड़ ज्ञान को भी यदि पराक् मान लें तो भी केवल प्रत्यक् पद प्रतिवादी को जीवात्ममात्रपरक ही मान्य है। मुख्य अहमर्थ जीवात्मा ही होता है। तथा च मुख्य अहमर्थता न होने पर भी ईश्वर में प्रत्यक्त्व विद्यमान है। इन तरह 'अहमर्थत्वाभाव होनेपर प्रत्यक्त्व नहीं हो सकता', यह कथन ईश्वर में बाधित है।

वस्तुतस्तु स्वस्मै प्रकाशमानत्वरूप प्रकाशमानत्व ही प्रत्यक्त्व है और वह अहमर्थत्वप्रयुक्त नहीं होता, किन्तु चैतन्यप्रयुक्त होता है। वह चित्त्व जीव ईश्वर दोनों में समान रूप से रहता है। धर्मभूत ज्ञान व्यावृत्त भी है, अन्यथा अहमर्थभिन्न ईश्वर में प्रत्यक्रूपता नहीं बनेगी। यदि ईश्वर को भी अहमर्थ

मान लिया जाय तो फिर अचित् एवं अहमर्थभेद से दो ही तत्त्व ठहरता है। फिर तत्त्वत्रय कथा निराधार हो जायगी। 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः' इत्यादि श्रुतियों में ईश्वर द्वारा स्वयं अहं शब्द का प्रयोग किया गया है, वह भी शरीर-सम्बन्ध की अपेक्षा से ही। क्योंकि आगे शरीर का प्रसङ्ग है। निष्कृष्ट केवल ईश्वर में कहीं भी अहं शब्द का प्रयोग नहीं है।

'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि स्थलों में तो जीव में ही अहं शब्द का प्रयोग है। यह सब ईश्वर में प्रत्यक्त्व मानकर कहा गया है। परन्तु जब प्रत्यक् पद जीव-परक ही है तब तो ईश्वर को प्रत्यक् कहा ही नहीं जा सकता। यदि उपर्युक्त भेद न माना जाय तो प्रतिवादी का 'ज्ञानयोग शुद्ध प्रत्यगात्म विषयक है और भक्तियोग परमात्म विषयक' यह विभाग नहीं बनेगा। परन्तु स्वस्मै प्रकाशमानत्व प्रत्यक्त्व है यह लक्षण ईश्वर में अतिव्याप्त है। अहमर्थ को प्रत्यक् स्वीकार करने में अद्वैती को कोई हानि नहीं है। क्योंकि अवस्थात्रयवान् ही प्रत्यक् है, वही जीव है, चिदचिद्ग्रंथिरूप में भी उसमें प्रत्यक्त्व रहता ही है। आत्मत्व प्रत्यक्त्व का प्रयोजक नहीं है, इसी लिये अहमर्थ के अखण्डात्म रूप होने में प्रत्यक्त्वानुपपत्ति प्रमाण नहीं है।

'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' कोई धीर प्राणी अमृतत्व की इच्छा करता हुआ बाह्य विषयों से उपरत करणग्राम होकर प्रत्य-गात्मा को देखता है। परन्तु इतने से ही यह नहीं सिद्ध होता कि प्रत्यगात्म-दर्शन साक्षात् अमृतत्व का हेतु है। तत्त्वमसि आदि वाक्यों के अनुसार प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमात्मदर्शन ही अमृतत्व का हेतु निश्चित है। वाक्यार्थबोध में पदार्थबोध आवश्यक होता है। अतः तत् पदार्थबोध के समान ही त्वं पदार्थ-बोध भी अपेक्षित होता ही है। तथाच 'निषादस्थपतिन्याय' से प्रत्यगात्मा में कर्मधारय समास ग्राह्य होने पर भी कोई आपत्ति नहीं क्योंकि प्रत्यक्रूप आत्मा प्रत्यगात्मा उसका अर्थ होगा। प्रत्यक् का आत्मा प्रत्यगात्मा इस तरह तत्पुरुष समास के द्वारा 'प्रत्यक् के अन्तर्यामी के दर्शन से भी मोक्ष होता है' यह कहना कोई महत्व नहीं रखता है, क्योंकि अन्तर्यामी के दर्शन से मोक्ष होता है यह कहने से ही वह काम चल ही जाता है। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इत्यादि श्रुतियों में सीधे ही परमात्मदर्शन से मोक्षप्राप्ति कही गई है। यह पीछे कहा जा चुका कि प्रत्यक् पद औपाधिक आत्मा का ही बोधक है, शुद्ध आत्मा प्रत्यक्त्व परात्व दोनों से ही रहित है।

परमात्मा प्रतिवादी के मत में अहमर्थ नहीं है तो भी प्रत्यक् है ही। सुख दुःखादि पदार्थ स्वप्रकाश होने से प्रत्यक् बन जायँगे, यह कथन निःसार है क्योंकि सुखदुःखादि साक्षिभास्य हैं। स्वप्रकाशत्व उनमें है ही नहीं। विषयप्रकाशक ज्ञान भी प्रतिवादी के मतानुसार ही प्रत्यक् ठहरेगा, यह पीछे कहा जा चुका है। अद्वैत मत में स्वप्रकाश साक्षी ही प्रत्यक् होता है अतः विषयप्रकाशक ज्ञान में प्रत्यक्त्व की आपत्ति नहीं हो सकती। यह परिभाषा यदि वैशेषिकों के यहाँ नहीं घटित होगी सो यह कोई दूषण नहीं है। 'परमञ्चति प्रतीपं अञ्चति' इत्यादि रीति से जो आत्मा से भिन्न के लिये प्रकाशते हैं वह पराक् है, जो अपने ही लिये प्रकाशता है वह प्रत्यक् है, ऐसा पराक् प्रत्यक् की व्याख्या मान लेने पर भी अद्वैती को कोई हानि नहीं ? क्योंकि अद्वैती जैसे औपाधिक आत्मा को ही अहमर्थ मानता है वैसे ही औपाधिक आत्मा को ही प्रत्यक् भी मानता है, वही चिद्चिदग्रन्थिरूप भी है। उसी में अचिदंश को लेकर अहंप्रतीतिविषयता भी बन जायगी। चिदंश को लेकर स्वप्रकाशता भी उपपन्न हो जाती है अतएव इदमनिदं रूप या दृक्दृश्य रूप अहमर्थ अद्वैतियों को मान्य है। प्रत्यक्त्व शुद्ध आत्मत्व का प्रयोजक नहीं है, यह कहा जा चुका है। आत्मा के स्वप्रकाश होने का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा का अपने आप प्रकाश होता है। किन्तु अवेद्य होकर अपरोक्ष होना ही आत्मा की स्वप्रकाशता है। आत्मा के विषय में अज्ञान संशय विपर्यय नहीं होता, इसलिये वह वृत्ति या वेदन का अविषय होकर भी अपरोक्ष माना जाता है। यदि आत्मा भी ज्ञेय होगा तो वह घटादि के तुल्य जड़ ही होगा, आत्मा नहीं कहा जा सकेगा। नैयायिक का अनुकरण करना अनात्मवाद में ही पतन है। यह सही है कि यह वह प्रतीति का विषय पराक् होता है इसी तरह अहं प्रतीति का विषय प्रत्यक् है, इसी लिये जीवात्मा सोपाधिक आत्मा प्रत्यक् है, तद्भिन्न देहादि पराक् कहे जाते हैं। परन्तु कुछ आत्मा प्रत्यक्त्व पराक्त्व दोनों से अतीत है जो सब में अनुस्यूत है और स्वयंशब्द बोध्य होता है। इदं अहं युष्मद् अस्मद् सब में स्वयं अनुस्यूत होता है। अथ स्वयं गच्छति, अहं स्वयं गच्छामि, त्वं स्वयं गच्छ। 'अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात्परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः', यह वैशेषिक सूत्र भी उसी सोपाधिक आत्मा को ही लेकर चरितार्थ है। अहं ऐसी प्रतीति प्रत्यगात्मा अर्थात् अपने में ही होती है अन्यत्र देह में नहीं होती। अतः इस प्रतीति से देहादिभिन्न आत्मा की ही सिद्धि होती है। कहा जाता है यदि देहादि अहं प्रत्यय गोचर हो तब तो अन्य देहों में भी अहं प्रत्यय होना चाहिये क्योंकि

देहान्तर भी प्रत्यक्ष है। आत्मान्तरों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि अन्य आत्मा के प्रति अन्य आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता; परन्तु 'इसमें भी देहादि भिन्न अहमर्थरूप अमुख्य आत्मा ही अहं प्रत्यय का गोचर होता है' इस सिद्धान्त में बाधा नहीं पड़ती। वैशेषिकों का सभी सिद्धान्त प्रतिवादी को भी नहीं मान्य है। यदि मान्य हो तब तो उसी के समान अचेतन व्यापक आत्मा प्रतिवादी को भी मानना चाहिये। अद्वैतियों के यहाँ भी औपाधिक आत्मा ही अहंप्रतीति का गोचर होता है। वह प्रतिशरीर भिन्न है, अतः प्रत्येक अहमर्थ को अपने में ही अहंप्रतीति होती है, अन्य अहमर्थ में नहीं। इतने महान् प्रयास से अहमर्थ को प्रत्यगात्मा सिद्ध कर देने पर भी उसकी मुख्य आत्मस्वरूपता नहीं सिद्ध होती।

इसी तरह कहा जाता है कि "शांकर भाष्य में 'कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम्' इत्यादि अंश में यह शंका उठायी गयी है कि प्रत्यगात्मा अविषय है, उसमें विषय एवं विषय धर्मों का अध्यास कैसे बन सकता है। अन्त में इसका समाधान किया गया है कि 'न तावदयमेकान्तेनाविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वादपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः' अर्थात्, प्रत्यगात्मा सर्वथा ज्ञान का अविषय नहीं कहा जा सकता किन्तु वह अस्मत् प्रत्यय का गोचर होता है। अहं अहं इस प्रकार आत्मा प्रत्यक्षरूप से प्रसिद्ध है, इसी अंश का परिमल भी पोषण करता है। यदि अन्तःकरण मात्र अहंप्रतीति का गोचर हो तो उसमें इदंप्रतीति भी होनी चाहिये। क्योंकि जड़ वस्तु इदं प्रत्यय का ही गोचर होती है। परागर्थ यह वह प्रतीति का गोचर और प्रत्यक् अहंप्रतीति का गोचर होता है। प्रत्यगात्मा अत्यन्त अज्ञात पदार्थ नहीं अतः उसमें अध्यास हो सकता है। इस शांकर भाष्य आदि से सिद्ध होता है कि अहं बुद्धि केवल परागर्थ से भिन्न प्रत्यगात्मा को विषय करती है। अहंप्रतीति से सिद्ध अहमर्थ ही प्रत्यगात्मा है और वही आत्मा है।" परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि उक्त शांकर भाष्य से अहमर्थ की मुख्य आत्मरूपता नहीं सिद्ध होती। यहाँ भी श्रीशंकराचार्य ने शुद्ध आत्मा को अस्मत्प्रत्यय गोचर नहीं कहा है। तभी एकान्तेन यह शब्द सार्थक होता है। उसका अभिप्राय यही है कि यद्यपि शुद्ध आत्मा सर्वथा अविषय ही है, तथापि अविद्योपहित या अहंकारोपहित आत्मा प्रत्यगात्मा कहा जाता है, और वह अस्मत्प्रत्यय गोचर होता ही है। वही अधिष्ठान भी होता है। उसी उपहित की दृष्टि से उसे अस्मत्प्रत्यय गोचर कहा जाता है। चिदंश की दृष्टि से ही वह

स्वतः अपरोक्ष है, इसी दृष्टि से 'अपरोक्षत्वाच्च' यह पृथक् हेतुनिर्देश है। अर्थात् प्रसिद्ध में अध्यास होता है। वह प्रसिद्धि किसी प्रत्यय का गोचर होकर हो या स्वतः अपरोक्ष होने से हो। परिमल का यह कथन कि 'केवल अन्तःकरण मात्र इदं प्रत्यय का गोचर होता है' यही सिद्ध करता है कि अन्तःकरणोपहित चैतन्यरूप चिद् अचिद् ग्रन्थि ही अस्मत्प्रत्यय गोचर है तथा परिमल का उक्त अंश पूर्वपक्षान्तर्गत है। परागर्थ से पृथक् प्रत्यगात्मा है, वह अहं प्रत्यय गोचर होने से अहमर्थ है, वही प्रत्यगात्मा है, यह सिद्ध भी हो जाय तो भी शुद्ध आत्मा अहमर्थ एवं प्रत्यक् से पृथक् ही है। 'अहमर्थ न होने से आत्मा में प्रत्यक्त्व सिद्ध ही न होगा' यह कहना भी निःसार है। क्योंकि प्रतिवादी के मत में प्रत्यक् और अहमर्थ जीव होता है, अन्य नहीं, परन्तु आत्मा तो परमेश्वर भी है ही। शुद्ध आत्मा अहंप्रतीति का विषय न होने पर भी औपाधिक आत्मा अहं-प्रतीति का गोचर है ही, फिर अहंप्रतीति के निर्विषय होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अहंकार जो कि चिदचिद्ग्रन्थि का एक भाग है वह भी अहंप्रतीति का गोचर है ही। स्वतंत्ररूप से अन्तःकरण भले ही इदं प्रत्यय का गोचर हो तथापि चिदचिद्ग्रन्थि रूप से या उसके भागरूप से वह अहं प्रत्यय का गोचर होता ही है। आत्मा संविद्स्वरूप है, वह ज्ञेय नहीं होता, इस परम सिद्धान्त को कभी न भूलना चाहिये। शुद्ध आत्मा कभी भी अहंप्रतीति का विषय नहीं होता, इसी लिये अहंकारोपहित चैतन्य अहंप्रतीति का विषय माना जाता है।

कहा जाता है कि "स्फटिक को छोड़कर जवाकुसुम में रक्तता दिखायी देती है। तब जवाकुसुम के सन्निधान से जवाकुसुम की रक्तिमा स्फटिक में भासित होती है, यह कहा जाता है। परन्तु वैसे आत्मा से अलग अन्तःकरण में अहं ऐसा व्यवहार नहीं होता। फिर उसकी अहन्ता आत्मा में कैसे आरोपित हो सकती है? इदंप्रतीति के योग्य अन्तःकरण में अहंप्रतीति हो ही नहीं सकती"। परन्तु यह सब कहना ठीक नहीं है, क्योंकि पहले तो जब चिदचिद्ग्रन्थ ही अहं शब्द वाच्य है तब यह प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ अन्तःकरण अहंप्रतीति का विषय न हो तो भी कोई हानि नहीं। साथ ही जब मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त अंतःकरण के ये चार रूप हैं तो अहंकाररूप अन्तःकरण अहंप्रतीति का विषय नहीं हो सकता यह कहना वैसा ही वदतोव्याघात है, जैसे घट घटप्रतीति का विषय नहीं हो सकता यह कहना। कहा जाता है कि 'ईश्वर में अहंकार नहीं होता, उसको भ्रम भी नहीं होता, यदि अहन्ता भ्रममूलक है तो ईश्वर तो सर्वज्ञ ही है।

फिर उसमें 'बहुस्यां' 'हन्ताहमिमाः तिस्रो देवताः' इस प्रकार अहंकार का उल्लेख कैसे होगा ?' परन्तु यह ठीक नहीं। यह पीछे कहा जा चुका है कि ईश्वर का ईक्षण ही समष्टि बुद्धिरूप महत्तत्व, एवं ईश्वर की ईक्षणानन्तरभावी व्याचिकीर्षा ही समष्टि अहंतत्व है। अतः ईश्वर में अहन्ता प्रतीति के लिये उसे अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य होने की आवश्यकता नहीं है। हाँ यह आपत्ति प्रतिवादी के ही मत में होगी, क्योंकि प्रतिवादी के मतानुसार अहमर्थ जीव ही है, ईश्वर नहीं। अहं का उल्लेख ईश्वरीय संकल्प के पहले नहीं, किन्तु ईक्षण के पश्चात् ही होता है, वही व्याचिकीर्षारूप वृत्ति है। अहमर्थ आत्मा नहीं है यह अद्वैती नहीं कहते, किन्तु शुद्ध आत्मा अहमर्थ नहीं है औपाधिक आत्मा अहमर्थ है यही मानते हैं। अतएव यह कहना निःसार है कि 'अद्वैतियों को अहंकार में इदंप्रतीति विषमता इष्ट है, अतः अहंकार-विशिष्टात्मवाचक अहं शब्द का आत्मा ही प्रतिपाद्य है।' क्योंकि पीछे कहा जा चुका है कि विशिष्ट ही अहं शब्दार्थ है, शुद्ध नहीं। साथ ही अहंकार भी अहंप्रतीति का विषय एवं अहं शब्द का अर्थ वैसा ही है, जैसे घट घटशब्दार्थ है। इसी तरह प्रत्यक्त्व को शुद्ध आत्मा का धर्म कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि शुद्ध आत्मा निधर्मक है। 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्' इस वचन का तात्पर्य अन्य श्रुतियों के अनुसार यही समझना चाहिये कि प्रत्यक् चैतन्या-भिन्न परब्रह्म ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। अहंकारावच्छिन्न या अविद्यावच्छिन्न चैतन्यरूप साक्षी ही प्रत्यगात्मा है, यह भी कहा ही जा चुका।

कहा जाता है कि "यदि अहमर्थ आत्मा न हो किन्तु अहंकार ही अहमर्थ हो तो देहादि अनात्मा के विषय में होनेवाली अहं बुद्धि को देहात्मभ्रम न कहकर देहाहंकार भ्रम ही कहना चाहिये।" यह भी कहा जाता है कि 'देह एवं चैतन्य के अभेद का ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही देहात्मा भ्रम बन सकता है, पर देहात्मवादी चार्वाक देह को चैतन्यस्वरूप नहीं मानते किन्तु देह को अहमर्थ एवं चेतन मानते हैं तथा चैतन्य को देह का धर्म कहते हैं। उनके मत में देह एवं चैतन्य का धर्मधर्मि भाव माना जाता है, अभेद नहीं। यदि वे देह एवं चैतन्य में अभेद मानते तो अद्वैती उसे देहात्म भ्रम कहकर निराकरण कर सकते थे। किन्तु धर्मधर्मि भाव में तो भेद ही रहता है। चार्वाकों का देहाहमर्थवाद अद्वैतानुसार देहाहंकारवाद ही ठहरता है। फिर उसे अद्वैती देहात्म भ्रम मानकर कैसे निराकरण कर सकते हैं ? यदि चैतन्य को आत्मा मानकर देह में आत्मा सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाय तो चार्वाक

सिद्धसाधन दोष कह सकता है; किन्तु सभी दार्शनिक 'देह अहमर्थ नहीं' यह कहकर ही उसके देहात्मवाद का खण्डन करते हैं। देह व्यतिरिक्त आत्मा ही अहमर्थ है यह कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञाता अहमर्थ ही आत्मा है।' परन्तु यह सब ठीक नहीं है, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीरान्तर्गत इन्द्रियादि में अहम्पद प्रयोग का कारण यह है कि अन्तःकरणरूप में अभिव्यक्त अविद्या से उपहित साक्षि चैतन्य में स्थूल शरीरादि का अध्यास होता है, परन्तु सुषुप्ति में स्थूल शरीरादि स्वरूप से नहीं होते। उस समय केवल अविद्या उपधानमात्र से आत्मा में साक्षिता होती है इसी लिये अहं प्रत्यय भी नहीं होता। जैसे इदमवच्छिन्न चैतन्य में जो रजत अध्यस्त होता है उसमें भी 'इदं रजतम्' ऐसी प्रतीति होती है। इसी तरह अहंकाररूप में अभिव्यक्त अविद्या से उपहित साक्षि चैतन्य में देहादि का अध्यास होने के कारण ही अवच्छेदक अहंकार के रूप में देहादि की प्रतीति होती है। अतएव देह में अहंकारभ्रम के कारण देह में अहं प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि न तो अहंकारमात्र देह का अधिष्ठान हो सकता है और न देहमात्र अहंकार का ही अधिष्ठान बन सकता है, किन्तु आत्माहंकाराध्यास के कारण ही देहादि में अहम्प्रत्यय होता है।

यह कहना भी ठीक नहीं कि आत्मा एवं अहंकार का अध्यास असिद्ध है क्योंकि यदि अहंकाराध्यास न हो तो आत्मा में अहंप्रतीति का निर्वाह ही नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि अनध्यस्त आत्मा ही अहमर्थ है, तब तो जागर आदि के समान सुषुप्ति में भी विशद अहं प्रत्यय होना चाहिये। सुप्ति में अहं प्रत्यय नहीं होता यह श्रुति से भी सिद्ध है ही। 'अहं जानामि' इत्यादि प्रत्यय तो चिदचिद्ग्रन्थिरूप आत्मा में ही होता है। संविदंश में आरोपित अन्तःकरण के ज्ञातृत्व, कर्तृत्व आदि धर्म का अध्यास होता है। उक्त भ्रम सोपाधिक भ्रम ही है। अतएव संविद्रूप आत्मा का 'अहं जानामि' इत्यादि प्रतीति में केवल स्वप्रकाशरूप से भान नहीं होता और केवल आत्मा में अधिष्ठानत्व भी नहीं बनता। साक्षात् या परम्परा से अविद्योपहित में ही अधिष्ठानता होती है। 'जिस रूप से अविद्योपहित संविद् अधिष्ठान होती है, उस रूप से ही अध्यस्यमान प्रतीत होता है' इस नियम के अनुसार अहंकार-रूप से अभिव्यक्त अविद्योपहित संविद् में अध्यस्त होने के कारण देहादि में अहं प्रत्ययविषयता होती है। फिर भले ही संविद् एवं शरीर परस्परविरुद्ध

स्वभाववाले हों। अधिष्ठान में आरोप्यविरुद्ध स्वभावत्व का ज्ञान ही अध्यास का विरोधी है, विरुद्ध स्वभाव स्वतः विरोधी नहीं। अन्यथा शुक्तिमत् रज्जु सर्पादि विभ्रम भी नहीं बन सकेंगे।

देह का ही स्वाभाविक धर्म चैतन्य है यही देहात्मवाद है। देहात्मवादी के मत में उससे भिन्न कोई आत्मा नहीं है। अद्वैतानुसार शरीरादि स्वातिरिक्त चैतन्य में अध्यस्त है। अतएव स्वाधिष्ठानचैतन्य के साथ तादात्म्य के कारण उसमें चैतन्य है और यह श्रुतिमात्र गम्य है। जब तक अधिष्ठान साक्षात्कार नहीं होता तब तक वह देह नष्ट होकर भी अविद्यारूप से अवस्थित रहता है। उसी के कर्मवशात् शरीरान्तररूप से ग्रहण होने पर जन्मान्तर का व्यवहार होता है। वस्तुतः प्रतिवादी के मत में ही देह में 'स्थूलोऽहं' यह देहात्मतादात्म्यावगाही सामानाधिकरण्य प्रत्यय नहीं बन सकता। क्योंकि "चित् एवं अचित् रूप शरीरों का परमात्मा से अपृथक् सिद्धत्व सम्बन्ध होने के कारण ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सामानाधिकरण्य प्रत्यय होता है। नित्य एवं अनित्य शरीर और आत्मा का उपादेयोपादान सम्बन्ध हो नहीं सकता। इसी लिये 'अपृथक् सिद्धत्व' के आधार पर सामानाधिकरण्य प्रत्यय नहीं हो सकता।" इत्यादि बातें अन्यत्र कही जा चुकी हैं। अद्वैत मतानुसार चिदचिद्ग्रन्थिरूप अहमर्थ आत्मा नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि वह शुद्ध आत्मा नहीं है, सोपाधिक आत्मा तो है ही। उसी सोपाधिक आत्मा में ज्ञान होता है, यह बात कही जा चुकी है। 'अचिद् अहंकार और चिद् आत्मा में परस्पर तादात्म्याध्यास होता है इसमें कोई प्रमाण नहीं हैं' यह कहना निराधार है।

कहा जाता है कि "अद्वैती 'अन्तःकरणभेद भ्रम' को अहं बुद्धि कहते हैं परन्तु अनात्मा में होनेवाले आत्मभ्रम का कोई प्रमाण नहीं मिलता। देहात्मभ्रम ही शास्त्रों में मिलता है। शुद्ध आत्मा में होनेवाली अहं बुद्धि भ्रम नहीं अतः आत्मा ही अहमर्थ है। साथ ही अद्वैतवाद के अनुसार 'अहं' इस प्रकार होनेवाले अहंकाराध्यास में 'अहं' शब्द का अर्थ अन्तःकरण है। 'मैं स्थूल हूँ' इस प्रकार होनेवाले स्थूल देहाध्यास में 'अहं' शब्द का अर्थ अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है। इस तरह एक ही 'अहं' शब्द का दो अर्थ मानना गौरव है, इसलिये सर्वत्र एक आत्मा को ही 'अहं' शब्दार्थ मानना उचित है"। परन्तु यह ठीक नहीं; कहा जा चुका है कि उक्त अध्यास के बिना 'अहं जानामि, अहं कर्ता' इत्यादि प्रतीति का निर्वाह नहीं हो सकता अतः उक्त भ्रम मानना अनिवार्य है। अन्तःकरण अहमर्थ का अंश होने से ही अहं पद से व्यवहृत होता है। देहात्मभ्रम

का अधिष्ठान केवल अन्तःकरण या केवल चैतन्य नहीं बन सकता। इसी लिये अन्तःकरणरूप से अभिव्यक्त अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ही अधिष्ठान हो सकता है। इसी लिये अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य 'अहं' शब्द का अर्थ मान्य है। रजत का अधिष्ठान शुक्ति मानी जाती है परन्तु केवल शुक्ति अधिष्ठान नहीं बन सकती अतः शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही शुक्ति पद से ग्राह्य होता है।

वस्तुतः 'अहं जानामि, अहं कर्ता, भोक्ता' इत्यादि अनुभवों द्वारा आत्मा में जो ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म प्रतीत होते हैं, ये धर्म हैं जाग्रत्, स्वप्न इन दो अवस्थाओं में अनुगत अहंरूप से भासमान चिद्-चिद्ग्रन्थिरूप अहमर्थ के। फिर तो अद्वैतवाद में भी यही मान्य है। यदि सुप्ति में अनुगत अविद्योपहित चैतन्य का धर्म कहें तो ठीक नहीं। क्योंकि सुप्ति में 'अहं जानामि, अहं कर्ता' इत्यादि अनुभव नहीं होता। कहा जाता है कि 'ज्ञोऽत एव' इस सूत्र के आधार पर सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञान का कर्ता ज्ञाता है परन्तु यह ठीक नहीं। वस्तुतः 'ज्ञ' शब्द भाव अर्थ में 'क' प्रत्यय होने से बना है। तस्मात् ज्ञप्तिमात्र या चिन्मात्र ही 'ज्ञ' शब्द का अर्थ है। अतः इससे ज्ञाता आत्मा नहीं सिद्ध होता। इस तरह कर्तृत्वादि आत्मा का धर्म नहीं सिद्ध होता है। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इस श्रुति के अनुसार आत्मा में कर्तृत्वादि का निषेध ही है। श्रुति का अर्थ यह है कि जिस ज्ञानकाल में सब कुछ आत्मा ही होता है वहाँ कौन किससे किसको देखे? 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इस श्रुति में 'विज्ञातुर्विज्ञातेः' यहाँ अभेद में षष्ठी है अतः 'विज्ञानस्वरूप विज्ञाता का विपरिलोप नहीं होता' यही उसका अर्थ है। इसके द्वारा धर्मभूत विज्ञान का अविपरिलोप नहीं कहा गया है। यदि धर्मभूत ज्ञानमात्र का अविनाश ही श्रुत्यर्थ हो तो नैयायिक आदि की तरह विज्ञाता की अचेतनता ही होगी। यहाँ विज्ञातारूप धर्मी को विज्ञानरूप बतलाने के लिये यह श्रुति प्रवृत्त है, अर्थात् 'विज्ञाति से अभिन्न स्वरूप विज्ञाता का विलोप नही होता' यही श्रुति का अर्थ है। 'अत्रैव मा भगवान् मोहमपीपदत्' इस उत्तर वाक्य में मैत्रेयी की शंका है कि आत्मा अचेतन है या चेतन? धर्मज्ञान के अविनाश प्रतिपादन का क्या तात्पर्य होगा? अथवा धर्मिरूप ज्ञान के अविनाश बोधन में तात्पर्य है? धर्मधर्मि भाव आत्मा में है भी या नहीं? इसी का परिहार है कि 'अविनाशी वाऽरे आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा'। तात्पर्य यही है कि यहाँ धर्मधर्मि भाव नहीं है अतएव धर्मज्ञान का अविनाश नहीं कहा जा सकता।

'ज्ञानमुत्पन्नं ज्ञानं नष्टम्' इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति विनाश का अनुभव

होता है। धर्मज्ञान का नित्यत्व प्रतिपादन करने से धर्मिज्ञान में धर्मज्ञान का सम्बन्ध नहीं सिद्ध होगा। सम्बन्ध बिना उस धर्मज्ञान से धर्मिज्ञान ज्ञाता कैसे बन सकेगा ? यदि कहा जाय कि धर्मीभूत ज्ञान के साथ धर्मज्ञान का अपृथक्-सिद्धत्व सम्बन्ध है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि दो नित्य द्रव्यों में नित्यत्वेन द्रव्यत्वेन उपादानोपादेय भाव नहीं बन सकता, अतः उनका अपृथक्-सिद्धत्व नहीं हो सकता। नित्य चिदचित् शरीर और परमात्मा का शरीर-शरीरि भाव के कारण अपृथक्सिद्धत्व सम्बन्ध होता है परन्तु धमरूप धर्मिज्ञान का शरीरशरीरि भाव अस्वीकृत ही है। अतएव नित्य धर्मज्ञान से आत्मा में विज्ञातृत्व नहीं बन सकता किन्तु अद्वैत सिद्धान्तानुसार कर्तृत्वविशिष्ट अन्तःकरणरूप अहंकार का संविद्रूप अधिष्ठान में उसी तरह आरोप होता है जैसे स्फटिक में लौहित्यविशिष्ट पुष्प का प्रतिबिम्ब अध्यारोपित होता है; अतएव 'लोहितः स्फटिकः' के समान 'अहं जानामि' यह प्रत्यय होता है। दो धर्मियों का परस्पराध्यास निरुपाधिक अध्यास कहलाता है। एक धर्मी के धर्म का दूसरे धर्मी में अध्यास होता है उसे सोपाधिक अध्यास कहा जाता है। वह भी दो प्रकार का होता है। पूर्वसिद्ध उपाधिधर्म का पूर्वसिद्ध धर्मी में अध्यास पहला है। दूसरा अहं कर्ता इत्यादि सोपाधिक अध्यास होता है। यहाँ अहं धर्मी पूर्व-सिद्ध नहीं है तो भी धर्मसहित धर्मी कर्तृत्व ज्ञातृत्वादिविशिष्ट अहं का अध्यारोप संविद् में होता है यह सोपाधिक अध्यास है; परन्तु जिस पक्ष में अहं या अन्तःकरण उपाधि पूर्वसिद्ध है वहाँ तो प्रथम कोटि का ही सोपाधिक अध्यास होता है। इस पक्ष में भी अहंकाराध्यास प्रथम होता है पश्चात् उसके धर्म का संविद् में अध्यास होता है। सर्वथापि चिदचिद्ग्रन्थि रूप ही अहमर्थ है। केवल चिद्रूप आत्मा में स्वाभाविक विज्ञातृत्व बन नहीं सकता। उसी तरह कर्तृत्वादि भी आत्मा में स्वाभाविक नहीं होता। 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' इस सूत्र से धर्मि-समसत्ताक होने के कारण अहमर्थ में कर्तृत्व स्वाभाविक कहा गया है। इससे स्वर्गादि के उद्देश्य से अग्निहोत्रादि कर्मों में प्रवृत्ति हो सकेगी। इसी से शास्त्र की अर्थवत्ता भी हो जायगी। इसी लिये शास्त्र की अर्थवत्ता में यादृश कर्तृत्व अपेक्षित होता है तादृश ही कर्तृत्व साधित होता है। वह व्यावहारिक ही होता है क्योंकि शास्त्र भी अविद्यावान् पुरुष को ही लेकर प्रवृत्त होता है। आचार्य ने भाष्य में स्पष्ट ही कहा है कि अविद्यावान् पुरुष को ही बोधन करने के लिये लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण और वैदिक विधिप्रतिषेध एवं मोक्षपरक शास्त्र होते हैं। इस तरह जब तक अहमर्थ की सत्ता रहती है तब तक कर्तृत्व अनुवृत्त